CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अंधकार में अग्निशिखा

कुबेरनाथ राय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

12.2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अंधकार
में
अग्निशिखा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अंधकार में अग्निशिखा

कुबेरनाथ राय

ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकाशक : ग्रंथ अकादमी, १६८६ पुराना दरियागंज, नई दिल्ली–११०००२
सर्वाधिकार : सुरक्षित / संस्करण : प्रथम, १९९८ / मूल्य : एक सौ पचास रुपए
मुद्रक : प्रिंट परफैक्ट, दिल्ली ISBN 81-85826-61-7

ANDHKAAR MEIN AGNISHIKHA by Kuber Nath Rai
Published by Granth Akademi, 1686 Old Daryaganj, New Delhi-110002
Rs. 150.00

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक 'अंधकार में अग्निशिखा' (स्व.) श्री कुबेरनाथ राय के ललित निबंधों का संग्रह है। उनकी मृत्यु के बाद अनुज होने के नाते मेरा कर्तव्य था कि मैं उनकी अप्रकाशित रचनाओं को प्रकाशित करा दूँ। मैंने पत्र द्वारा प्रकाशक महोदय से बात की। उन्होंने बड़ी आत्मीयता से पांडुलिपि माँगी और इसे प्रकाशित करने के लिए तैयार हो गए। मेरी माँग पर मेरे अग्रज की एकमात्र संतान श्री कोशलेंद्रकुमार राय के नाम से तुरंत अनुबंध करके प्रकाशन का काम प्रारंभ कर दिया। इसके लिए मैं पुस्तक के प्रकाशक का आभार व्यक्त करता हूँ। साथ ही, मेरे अग्रज के शुभेक्षुओं—डॉ. अनिलकुमार राय आंजेन, श्री हारून रशीद खाँ एवं डॉ. ब्रह्मेश्वरनाथ राय ने यथासमय मुझे पुस्तक की पांडुलिपि को तैयार करने में प्रोत्साहित किया, इसके लिए मैं उनका भी आभारी हूँ। विशेष धन्यवाद के पात्र दिवंगत लेखक के एकमात्र पौत्र अनंतविजय राय एवं पौत्री अपराजिता राय हैं, जिन्होंने विशेष उत्साह से निबंधों को खोजने और पांडुलिपि संकलित करने में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया।

पुस्तक का रूप, रस, गंध तो लेखक के जीवित रहते दूसरा ही होता; किंतु जैसे-तैसे मैं पाठकों के समक्ष इसे प्रस्तुत कर रहा हूँ।

—नागानंद वात्स्यायन

मतसी, गाजीपुर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनुक्रम

क्र.	*विषय*	*पृष्ठ संख्या*
१.	वत्स, मैं निरंतर युद्ध कर रही हूँ	९
२.	मन वृंदावन	१८
३.	उच्चाटन	३४
४.	ऋषि-चित्त की मधुमती भूमियाँ	४०
५.	उत्तर फागुन में सूर्य-स्तवन	५२
६.	तस्य भासा सर्वमिदं विभाति	६२
७.	ददरी घाट पर अपराजित सूर्य	६९
८.	अग्नि धीरोदात्त : अग्नि धीरललित	८१
९.	कुब्जा सुंदरी	९५
१०.	अग्नि, तुम जागते रहना	१०५
११.	अरे ओ वज्रादपि कठोर!	११२
१२.	भाई फागुन, हिम्मत मत हारना	१२१
१३.	भारत माता और कमठ-खोल के बुद्धिजीवी	१३२
१४.	लोकोत्तर बुद्ध : एक सूर्य-प्रतीक	१४०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वत्स, मैं निरंतर युद्ध कर रही हूँ

"'इस शताब्दी के अंतिम दशक में, इस नित्य गहराते गहन-गंभीर अंधकार में, अश्रद्धा और अविश्वास की तमसा में तिरता हुआ एक शब्द उदित होता है और इस शब्द का तथा इस शब्द से जुड़े प्रमूल्यों का निरंतर चरित्र-हनन करना आज के बुद्धिजीवी की सबसे बड़ी बहादुरी रही है। वह शब्द है 'देशभक्ति'। यही शब्द हमें उबरने के मार्ग का संकेत देता है। 'नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय'।'"

प्रतिवर्ष नवरात्र में देवी का आगमन होता है। इसी बात को लोग तरह-तरह से कहते हैं। देवी आ रही है। वह दसों दिशाओं में प्रसारित बाहुओंवाली द्वादशभुजा है या अष्टादशभुजा है या सहस्रभुजा है। देवी आ रही है। सिंह पर सवार है। विद्युत्प्रभा-सी अंग-छवि है, नजर टिक नहीं पाती। उस छवि का एक अणु-अंश जब धरती के किसी रूप या दृश्य में प्रतिबिंबित हो जाता है तो दृष्टि अवश हो जाती है और यह तो छवि का विभु (विराट्) रूप है। इसके लिए तो दिव्य दृष्टि चाहिए। देवी आ रही है, रथ पर सवार है, रथवंती है; मेदिनी ही इसका रथ है, मरुत सारथि है, तेजस्वी ऋचाएँ और परा-अपरा विद्याएँ ही उसे खींच रही हैं तथा यह द्यावा-पृथ्वी ही इसका राजमार्ग है। देवी आ रही है, नाव पर सवार है। काल की शाश्वत धारा ही इसका नौका-पथ है, पृथ्वी ही हंस-ग्रीवा नौका है, कल्प-कल्पांतर के पाल तने हैं, अदृश्य देवता इस नौका की डाँड़ खे रहे हैं, महाकाल कर्णधार है, निरंतर उठते और लीन होते संवत्सरों की तरंग माला रचती हुई यह नाव निरंतर चल रही है। देवी आ रही है, पालकी पर सवार है, षड् ऋतुओं के 'ओहार' सजे हैं, परदे-पर-परदे, चित्र-पर-चित्र, दृश्य-पर-दृश्य निरंतर बदलते जा रहे हैं। अपूर्व है यह 'ओहार' अर्थात् यह आवरण, जिसके भीतर देवी का शाश्वत सुंदर मुख है और देवी 'वनिता'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(बन्नी) बनकर आ रही है। देवी अलस कन्या जैसी है, अप्सरा जैसी है, जिसकी एक-एक भुवनमोहिनी नजर पर इस जंबूद्वीप की विशाला-द्वारावती-साकेत-मायावती-काशी-कांची-मथुरा जैसी सप्तपुरियों की रचना होती चलती है। देवी ही सृष्टि का आदि बिंदु है, 'श्रीविद्या' है, राज-राजेश्वरी है, परम पवित्र है; ये क्षण परम पवित्र हैं। यह काल परम पवित्र है; ये नौ रातें, जिनमें देवी अपने तीनों भुवनों की व्याप्ति को समेटकर इस जंबूद्वीप पर उतरती है और तीनों भुवन—'भूः-भुवः-स्वः' का मधु निचोड़कर इसी धरती पर उतार देती है, जिसे 'भारतवर्ष' कहते हैं। देवी ही मधु का परम आधान है। इसीसे तो इसकी एक संज्ञा 'माधवी' भी है। शरद्काल में वह सावित्री-शारदा की कला बन आती है तो वसंतकाल में सोमा-माधवी की। तेज और माधुर्य—दोनों मिलकर उसके अग्नि-सोमात्मक व्यक्तित्व को व्यक्त करते हैं। शायद इसीसे यह हिंदुस्तानी जाति इसकी उपासना वासंती और शारदीय—दोनों नवरात्रों में करती है। इतिहासकार बताते हैं कि वासंती उपासना ही मूल उपासना है। शारदीय उपासना तो भारत में आने पर आर्यों ने आदिम निषाद से सीखी है। पुराण भी तो बताते हैं कि इसको त्रेता में रघुपति रामचंद्र ने प्रारंभ किया था।

हम ऊपर की सारी बातें बचपन से ही सुनते-सुनाते आए हैं; परंतु मेरे मन में सदैव यह बात उठती रही है कि देवी कहीं बाहर तो है नहीं, जो उसके आने-जाने का सवाल उठे। वह सृष्टि के सारे परा-अपरा रूपों में विद्यमान है। वह घट-घट में है, वह देह-देह में है, वह अपनी सत्ता की मूल प्रकृति है। हमारी देह की प्रत्येक इंद्रिय में उस इंद्रिय के अभिमानी देवता का निवास है। देह स्थित सारी दिव्य शक्तियों का समवाय है देवी। महामुनि मार्कंडेय चंडी के मध्यम चरित के माध्यम से इसी बात को एक कहानी का रूप देते हैं। जब सृष्टि में तमस रूप महिषासुर प्रबल हो गया तो उस रतनारा चक्षु से भयभीत होकर सारे देवता अपने-अपने आसन छोड़कर भाग चले और प्रजापति की शरण में गए। प्रजापति सभी को लेकर शिव और अंत में विष्णु के पास गए। विष्णु सारी कथा सुनकर उत्तेजित हो गए और उनके रोष-दीप्त मुखमंडल से एक अत्यंत तीक्ष्ण तेज निर्गत हुआ। उसमें सारे देवताओं ने अपने भीतर से अपने-अपने तेज का मुख्य अंश डाला। अंत में समस्त देवमंडल का वह सारभूत वैष्णव तेज एक नारी में परिणत हो गया। उसी महा तेजस्वी देवी को हम 'महालक्ष्मी' अथवा 'महिषमर्दिनी दुर्गा' कहते हैं। वस्तुतः समस्त सिद्ध और साध्यगण ऋषि, गंधर्व तथा देवता, व्यक्ति-मन एवं विश्व-मन में स्थित शुभ और दिव्य वृत्तियों के प्रतीक हैं। पुराण इन्हें ही कल्पित मानुषी रूप देते हैं। महिषासुर और कोई नहीं, व्यक्ति-मन और विश्व-मन में स्थित तामसी वृत्तियाँ ही हैं। प्रमाद,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आलस्य, कामुक अवदमन, ग्लानि, आत्महीनता, नृशंसता, अद्यातुर लोभ और अंधी वासना—ये सबके सब महिषासुर के ही रूप हैं। यह महिषासुर हमारे अंदर बैठी हुई दिव्यता और शुचिता के समाहार स्वरूप देवी को भोगने के लिए कामातुर हो उठता है। उसका उद्घोष है 'रत्नभुजो वयम्'—रत्नों के भोक्ता हम ही हैं। सारे रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द पर हमारा दखल है। तो उस समय देवी और महिषासुर में युद्ध ठन जाता है और हम स्वयं इस संग्राम की रणभूमि बन जाते हैं। परंतु हम सब नहीं। हममें से किसी-किसीके अंदर ही शुभ की शक्तियाँ इतनी प्रबल हो पाती हैं। जब ऐसा घटित हो जाता है तब जीवन में यातना-भोग के मध्य दिव्यता का जन्म होता है। तब वह पुरुष महापुरुष बन जाता है।

देवी-महिषासुर के मिथक के ही समानांतर एक और मिथक चलता है, त्रिपुर-दाह का मिथक; पर दोनों का मर्म एक ही है। व्यक्ति-मन और विश्व-मन में इच्छा, क्रिया एवं ज्ञान के तीन पुर हैं और इन तीनों पुरों में देवी का ही निवास है। इसीसे उसका नाम है 'त्रिपुर सुंदरी'। परंतु साथ ही इन तीनों पुरों में असुर का भी निवास है। देवी और असुर अर्थात् शुभ और अशुभ। शुभ सुंदर होता है, अशुभ कुत्सित और विकराल होता है। इसीसे शुभ है त्रिपुर सुंदरी और अशुभ है असुर। व्यक्ति अपने भीतर के त्रिपुरासुर का ध्वंस करके अपने को शिवमय यानी मंगलमय बनाता है। परंतु यह असुर-संहार भी बाहरी शक्ति द्वारा संभव नहीं। भीतर बैठी इच्छा, ज्ञान और क्रिया में स्थित देवी के उद्बोधन द्वारा ही यह संभव है। इच्छा के भीतर स्थित 'असुर' का ध्वंस करने के लिए उसीमें स्थित 'सुंदरी' अर्थात् 'महाविद्या' का उद्बोधन करना होता है। वैष्णवों और शाक्त आगमों का मनोविज्ञान इसी तथ्य पर आश्रित है। इसी प्रकार ज्ञान और क्रिया में स्थित असुर का ध्वंस करने के लिए उसीमें स्थित 'सुंदरी' अर्थात् महाविद्या का उद्बोधन करना पड़ता है। अन्यथा ज्ञान और क्रिया आसुरी रह जाते हैं। उद्बोधन भी करता है अपने अंदर स्थित परम चैतन्य रूप शिव ही। इसी बात को पुराण इस प्रकार कहते हैं कि शिव ने 'त्रिपुर-ध्वंस' के लिए 'महाकालवन' (उज्जयिनी) में बैठकर तपस्या की थी तो 'त्रिपुर-सुंदरी' ने उन्हें 'महापाशुपत' अस्त्र दिया, जिसकी नोक बने रुद्र स्वयं, कांड बने विष्णु और पक्ष बने प्रजापति। वह 'महाकालवन' हम सबके अंदर ही स्थित है। साथ ही विश्व-मन में भी है। विश्व-मन में ज्ञान एवं क्रिया रूप आज घोर और उद्दाम हो उठा है; क्योंकि वह महाविद्या से विच्छिन्न शुद्धतः 'सेक्युलर' अर्थात् लोकवादी है। विश्व-राजनीति और विश्व-अर्थव्यवस्था के भीतर दुरित तथा अशुभ की प्रबलता के मूल में यही तथ्य है। विश्व-मन का भी उद्धार तभी संभव होगा,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जब इसके भीतर महाविद्या तत्त्व जाग्रत होगा। इस महाविद्या तत्त्व का ही पुराना नाम है 'धर्म-बोध'। यह धर्म-बोध हिंदू, मुसलिम, ईसाई आदि किसी भी विशेषण द्वारा सीमित नहीं है और मनुष्य, प्रकृति और ईश्वर—तीनों के संयुक्त मिक के भीतर ही कार्यकारी होता है।

आधुनिक संस्कृति अपने को 'सेक्युलर' अर्थात् 'इहलोकवादी' कहती है। परंतु इहलोक को लेकर राजनीति-अर्थनीति चल सकती है; पर ये शीलाचार और श्रेयबोध से विहीन ही होंगे। संस्कृति का अर्थ है, मनुष्य की एक परिमार्जित नैतिक और रसात्मक भव्यता। यह केवल इहलोकवादी दृष्टि से संभव नहीं। यह इहलोक दृष्टि रोटी, कपड़ा, मकान और सेक्स—इन्हींमें सीमित है और ये ही आधुनिक संस्कृति के चार पुरुषार्थ हैं। इनमें भी चरम पुरुषार्थ है 'सेक्स', यानी यौनानंद। ये महिषासुर के ही रूप हैं। 'रोटी, कपड़ा, मकान' का गांधीवादी अर्थ और नई अभिजात उपभोक्ता संस्कृति के अंदर विकसित अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। और इस रोटी या कपड़ा या मकान की सीमा स्वर्ग को, आकाश को भी छू सकती है और यह चरम-भोग लालसा की भी संज्ञा हो सकता है। सूर्य-चंद्र का भक्षण करने पर भी तृप्ति नहीं मिल सकती है। इसीसे मैं कहता हूँ कि अविराम, उन्मत्त संयम लालसा एवं आत्मक्षयी भोग-लिप्सा का कोई अंत नहीं और रोटी, कपड़ा, मकान एवं सेक्स का रूप धारण करके भी महिषासुर आ सकता है। बल्कि यों कहें कि उपस्थित है। संस्कृत में एक शब्द है 'रिरंसा' अर्थात् रमण-तृषा। हँकड़ता हुआ बलात्कारी, कामुक महिष इसका प्रतीक माना गया है। भारतीय साहित्य में तृप्त काम-सुख का प्रतीक है—वृषभ, जो 'आनंदाख्य' शिव का बिंब है। परंतु रतनार चक्षु, अतृप्त काम का प्रतीक है—महिष। प्रथम जीवन की सहजवृत्ति है, दूसरी असहज, अतः अशुभ और आसुरी। यही 'काम' और 'रिरंसा' में भेद है। 'रिरंसा' शब्द का यदि व्यापक अर्थ लें तो यह किसी भी प्रकार की भोगातुरता और अतृप्ति का द्योतक हो सकता है। यह 'स्मर' नहीं 'अपस्मर' (अपस्मार) है और बौद्ध साहित्य का यही 'मार' भी है। देवी इसके विपरीत 'जिजीविषा' यानी जीवन-तृषा की प्रतीक है। यह जिजीविषा मनुष्य के अभ्युदय और निःश्रेयस की प्रेरक शक्ति है। यह तप, त्याग और अप्रमाद से जुड़ी है। तप, त्याग और अप्रमाद की सीढ़ियों से ही जीवन में मधु और तेज उतरता है। आधुनिक मनोविज्ञान रमण-तृषा को ही जीवन-तृषा मानता है; अवदमित रमण-तृषा से निर्गत मानसिक ऊर्जा को 'लिबिडो' कहता है और दुर्भाग्यवश हिंदी में कुछ लोगों ने फ्रॉयड के इस 'लिबिडो' शब्द का अनुवाद 'जिजीविषा' कर डाला है। फ्रॉयड का मन स्वयं अवदमित तृषा का सिकार था और फलस्वरूप उसने मनुष्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाति के इतिहास की सारी श्रेष्ठतम उपलब्धियों को काम-तृषा और 'लिबिडो' का ही अवदान माना है। ऐसा करने से मनुष्यत्व की सारी गरिमा और पवित्रता ही हवा में विलीन हो जाती है। अबोध शिशु द्वारा माँ का स्तनपान एक अत्यंत सुंदर और पवित्र तथ्य है। परंतु इन लोगों की दृष्टि में वह भी 'रिरंसा' यानी रमण-तृषा का एक रूप है। ऐसी पापग्रस्त दृष्टि को लेकर मानुषी शील का क्या रूप हो सकता है, वह आधुनिक चिंतन और साहित्य में तथा आधुनिक जीवन में प्रत्यक्ष हो रहा है। परंतु ऋषि-दृष्टि अपने विवेक द्वारा साफ़-साफ़ देख सकती है कि 'रिरंसा' यानी रमण-तृषा और 'जिजीविषा' यानी जीवन-तृषा—दोनों दो तरह की बातें हैं और शिशु द्वारा मातृ स्तनपान रिरंसा नहीं, जिजीविषा का द्योतक है। रिरंसा हमें अधोगति की ओर ले जाती है और जिजीविषा ऊर्ध्व संचरण कराती है। प्रथम का प्रतीक है महिषासुर, दूसरे की देवी। पहला मृत्यु का सहचर है, दूसरा शाश्वत जीवन की प्रेरणा। पहला प्रतीक भोग, प्रमाद, संचय, नृशंसता और सत्ता-लोलुपता का रूप लेता है; दूसरा प्रतीक त्याग, तप, दान, क्षमा, करुणा और प्रेम का।

ये सारी बातें समूह के संदर्भ में भी उतनी ही सही हैं, जितनी कि व्यक्ति के संदर्भ में। परंतु आज के बुद्धिजीवी के मन में यह बात बैठती ही नहीं; क्योंकि तप, त्याग और अप्रमाद का रास्ता धर्म का रास्ता है। आज का बुद्धिजीवी धर्मनिरपेक्ष है और राजनीति के पथ का पथिक है। वह आर्थिक, सामाजिक, यहाँ तक कि सांस्कृतिक और साहित्यिक समस्याओं का समाधान राजनीति में ढूँढ़ता है। वह समझ नहीं पाता कि काम करना और बात है तथा काम की राजनीति और बात। वह समूह-विरोधी 'रिरंसा' से जूझने के लिए किसी 'प्रति-रिरंसा' को ही हथियार बनाकर चलता है। वह परिवर्तनकामी है, परंतु प्रतिशोध उसका मुख्य हथियार है और दूसरे छोर से उन्हीं नंगी क्रूर लालसाओं की उपलब्धि के लिए लड़ रहा है, जिनके खिलाफ उसने लड़ाई छेड़ दी है। 'प्रति-रिरंसा' अर्थात् उलटी दिशा से चलती हुई भोग-लिप्सा और अधिकार-लिप्सा को लेकर जहाँ-जहाँ मनुष्य के उद्धार की लड़ाई लड़ी गई है, वहाँ-वहाँ उद्धार का रूप एक नए किस्म का बंधन सिद्ध हुआ है। राजनीति की किताब में तो बस अधिकार-ही अधिकार हैं, कर्तव्य उसके भीतर एक 'कुजात' शब्द है। और तो और, अपनी नई बाइबल—भारतीय संविधान के प्रथम संस्करण में मौलिक अधिकारों की बड़ी-बड़ी बातें रखी गई हैं; परंतु मौलिक कर्तव्यों की कोई चर्चा नहीं। उन्हें तो प्रथम पृष्ठ की ललित भाषा में सांकेतिक शैली में कहा गया। राजेंद्र प्रसाद, नेहरू, आंबेडकर के दिमाग में यह बात आई ही नहीं कि हजार वर्ष की गुलामी से कुसंस्कारग्रस्त भारतीय मानस के लिए

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अधिकार से ज्यादा कर्तव्य को रेखांकित करना जरूरी है। शायद उन्होंने सोचा कि उस हँसी-खुशी, उल्लासमय ताजपोशी के मौके का स्वाद कर्तव्य जैसी यंत्रणादायक बात की चर्चा करके क्यों खराब किया जाए। फलस्वरूप तब से आज तक 'सड़क छाप' से लेकर 'महामहिम' किस्म के सभी राजनीतिज्ञ अधिकारों की ही चर्चा करते हैं और आज अधिकारों की बात आसमान छू रही है तथा तृतीय-चतुर्थ श्रेणी का चपरासी अपने रोटी, कपड़े, मकान के अर्थ को टी.वी. और फ्रिज तक फैलाकर देखने का आकांक्षी है। इस देश में अधिकार यदि किसीको नहीं है तो वह है मात्र किसान। किसान के लिए कर्तव्य-ही-कर्तव्य हैं।

हाँ, बाद में श्रीमती इंदिरा गांधी ने इस जरूरत को समझ संविधान के कुछ मूल अनुच्छेदों में कर्तव्य की बात को अवश्य जुड़वाया था। पर तब तक अधिकार की सर्वग्रासी मानसिकता इतनी जड़ जमा चुकी थी कि वह प्रयत्न एक राजनीतिक जोड़-घटाना ही सिद्ध हुआ। तब तक राजनीति की संस्कृति का स्वरूप ऐसा हो गया था कि उस योग-वियोग को निष्पक्ष रूप से परिभाषित करने का साहस अगले चुनाव की चिंता में लीन राजनीतिज्ञ के पास रह ही नहीं गया। अतः मौलिक कर्तव्यों की बात पाठ्य पुस्तकों में दिए गए उपदेशों की भाँति 'उड़ा हुआ सत्तू पितराय नमः' जैसी ही बन गई है और आज इस धर्मनिरपेक्षता तथा समाजवाद के देश में कर्तव्य, तप-त्याग, अप्रमाद की बात कहकर कौन 'नक्कू' बनेगा! व्यक्ति के लिए कर्तव्य की बात जो कुछ कहना हो, कह लो, इसकी छूट है; परंतु जनसमूह के लिए कर्तव्य! इसे कहकर कौन राजनीतिज्ञ अपना भविष्य अंधकारमय करने जाएगा! उसे तो यही बताते जाना है कि सारी समस्याओं का समाधान उसकी जादुई छड़ी में है। अतः 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'—इसी छड़ी की शरण में आ जाओ। 'रोटी, कपड़ा, मकान, सेक्स'—चारों पुरुषार्थ लब्ध हो जाएँगे। संस्कार चाहे वामपंथी-समाजवादी हों या दक्षिणपंथी-मध्यवर्गीय हों—दोनों में ही, ये चार ही सबकुछ माने जाते हैं और नया बुद्धिजीवी प्रेस तथा विश्वविद्यालयों में बैठकर इन्हें ही अभ्रांत कंठ से 'पुरुषार्थ चतुष्टय' घोषित कर रहा है।

तो कहने का तात्पर्य यह है कि आज जो लड़ाई चल रही है, वह देवी और महिषासुर के बीच नहीं है। वह तो महिषासुर और प्रतिमहिषासुर के बीच है। इसमें जय भी उतनी ही अपवित्र और अशुभ है, जितनी पराजय। असल पराजय तो दोनों स्थितियों में हिंदुस्तान की ही होनी है। दुःख तो इस बात का है कि सनातन से 'लोकचक्षु' की भूमिका लेनेवाला साहित्यकार भी इसी 'प्रतिमहिषासुर' की जययात्रा का महाकाव्य 'प्रतिबद्धता' और 'सामाजिक चेतना' की बहुविज्ञापित शपथों की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आड़ लेकर गाता फिर रहा है। यह साहित्य की अभिनव दरबारी संस्कृति है। दरबार का रूप बदल गया है, पर मानसिकता वही है।

फलतः आज अन्न, जल, पवन एवं भाषा—सभी दूषित और अपवित्र हो उठे हैं।

ऐसे में कोई भरोसा, कोई आश्वासन, कोई उबरने का मार्ग? मेरी परम स्मृति में इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप इस शताब्दी के अंतिम दशक में, इस नित्य गहराते गहन-गंभीर अंधकार में, अश्रद्धा और अविश्वास की तमसा में तिरता हुआ एक शब्द उदित होता है और इस शब्द का तथा इस शब्द से जुड़े प्रमूल्यों का निरंतर चरित्र-हनन करना आज के बुद्धिजीवी की सबसे बड़ी बहादुरी रही है। वह शब्द है 'देशभक्ति'। यही शब्द हमें उबरने के मार्ग का संकेत देता है। 'नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय'। भावुकतावाद, पुनरुत्थानवाद, नाजीवाद, कट्टर राष्ट्रवाद आदि-आदि कहकर इस शब्द का चरित्र-हनन करने का कूट षड्यंत्र १५ अगस्त, १९४७ से ही प्रारंभ हो गया। फलतः, इससे जुड़े सारे प्रमूल्यों एवं भावों के प्रति अनास्था और संदेह उत्पन्न करने को ही 'आधुनिक दृष्टिभंगी' कहा जाने लगा। प्रगतिशील चिंतन का नामांतर ही हो गया 'देशभक्ति' शब्द का चीरहरण। इस चीरहरण के उल्लास में हमने 'सेक्युलरिज्म' और 'समाजवाद' जैसे कुछ अपने-अपने संदर्भ में सही प्रमूल्यों के व्यावहारिक अर्थ पर ही ऐसी लीपा-पोती कर दी है कि ये दोनों शब्द हमारे विवेक को निर्मल व स्वस्थ करने की अपेक्षा और अधिक भ्रांत और 'अंधा' बना रहे हैं। देश की प्रज्ञा इतनी भ्रांत हो चुकी है कि मन चलता है 'विनायक' का चित्र बनाने तो हाथ बना देता है 'वानर' का चित्र और अपने अहंकार के कारण अपनी भ्रांति को देखने में अक्षम हम इसी 'वानर' को असली 'विनायक' घोषित करते जा रहे हैं। परंतु मेरा दृढ़ विश्वास है कि समता, प्रगति, समाजवाद, सेक्युलरवाद आदि सबको स्वीकार करते हुए भी इन सबसे अधिक सर्वनिष्ठ और महत्त्वपूर्ण है 'देशभक्ति'। अतः आवश्यक है कि 'देशानुराग' को ही मूलभूत और प्राथमिक शर्त माना जाए और इसकी ही सुप्त चेतना के जागरण से उन शेष प्रमूल्यों को भी सार्थक बनाने की चेष्टा हो। उबरने का अन्य कोई मार्ग ही नहीं है। अन्यथा हम टुकड़े-टुकड़े होकर दरिद्र और अप्रशस्त ही रह जाएँगे। इसी भाव के जागरण की आवश्यकता हमारी सर्वोच्च आवश्यकता है। इसी भाव के जागरण द्वारा हम जन-गण के विक्षुब्ध, परस्पर हिंसाशील, अविनय एवं अविवेक से ग्रस्त मानस का सही उपचार करके उसे शुभ के मार्ग पर प्रेरित कर सकते हैं। मानस यदि स्वस्थ और शुभ हो गया तो कर्म अपने आप शुभ और पवित्र हो जाएँगे।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'अहं जनाय समदं कृणोमि'—मैं अपने जन के लिए निरंतर संग्राम करती हूँ। भगवती के इस आश्वासन पर मुझे तो पूर्ण विश्वास है। 'अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी''अहं जनाय समदं कृणोमि'—मैं ही 'राष्ट्री' शक्ति हूँ। प्रज्ञावंतों के लिए लौकिक और ब्राह्मी ऋद्धियों को मैं ही जुटाती हूँ। मैं विष्णु के पग को अनुत्तर विस्तार देती हूँ, ब्रह्मा बनकर सृष्टि के लिए योनि-कमल पर अपने को उद्घाटित करती हूँ; मैं ही काल के धनुष को तानती हूँ। मैं मौजूद हूँ, अतः डरो मत। मैं कहीं गई नहीं हूँ। अपने जन के लिए निरंतर जूझ रही हूँ।''' ऐसा आश्वासन देते हुए देवी ने जो अपना परिचय प्रसिद्ध वैदिक देवीसूक्त में दिया है, उसमें ध्यान देने की बात यह है कि अपने लिए उसने 'राज्ञी' शब्द का व्यवहार न करके 'राष्ट्री' शब्द का व्यवहार किया है। 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ होता है 'पुंज' या 'समूह'। देवी स्वयं अपने को 'स्वामिनी' या 'राज्ञी' घोषित न करके राष्ट्र अर्थात् समष्टि की पुंजीभूत शक्ति मानती है। इसीको जनसाधारण की बोली में 'भारत माता' कहा गया है, धरती माता कहा गया है, 'भारत' शब्द तो बाद का है। आज हम जिसे 'भारत' कहते हैं, वैदिक ऋषि उसको पृथ्वी मानकर चलता है और इसीसे भारतीय मनीषी जब भारत की बात करता है तो उसे समग्र पृथ्वी से जोड़कर कहता है। यह यूरोप से उन्नीसवीं सदी में आए हुए क्षुद्र एवं सीमित राष्ट्रवाद से बहुत भिन्न है। 'भारत माता की जय' कहना न तो पुनरुत्थानवाद है और न नाजीवाद। यह 'भारत माता' इस देश की पुंजीभूत एकत्रित सांस्कृतिक-सामाजिक, बौद्धिक ऊर्जा का ही एक नाम है। यह शाश्वत जाग्रत शक्ति है। यह कभी सुप्त थी क्या, जो इसके पुनरुत्थान का प्रश्न उठे! यदि यह पूर्णतया सुप्त रहती तो 'यूनान, मिस्र, रोमां सब मिट गए जहां से, बाकी है अब भी नामोनिशां हमारा' कैसे संभव होता। लोक और शास्त्र, दोनों के भीतर यह प्रज्ञा ज्योति की तरह हमारे इतिहास की विधायिका शक्ति बनकर जाग्रत रहती है। रवींद्रनाथ ने अपने प्रसिद्ध गीत 'जन-गण-मन' में इसीकी ओर इशारा किया है—

> 'घोर तिमिरघन निविड़ निशीथे पीड़ित मूर्छित देशे।
> जाग्रत छिल तव अविचल मंगल नतनयने अनिमेषे।
> दुःस्वप्ने आतंके रक्षा करिले अंके
> स्नेहमयी तुमि माता।'

□

स्मरण रहे कि इस अनुच्छेद में जन-गण-मन अधिनायक 'काल-शक्ति' को कविगुरु ने 'माता' कहकर मांगलिक मातृका शक्ति के रूप में देखा है। यह रेखांकित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करने लायक तथ्य है। हम इस नित्य जाग्रत शक्ति में पुनः अपने विश्वास को प्रतिष्ठित करें; क्योंकि यह है, यह कहीं गई नहीं है। नए-नए शब्दों के सम्मोहन में विमूढ़ होकर हम इसे अनुभूत करने में असमर्थ हो रहे हैं। इसका शाश्वत आश्वासन है। 'मामैः'—डरो मत, 'अहं जनाय समदं कृणोमि'—मैं अपने जन के लिए निरंतर युद्ध कर रही हूँ। देवी-नवरात्र के पवित्र अवसर पर हम उस भुवनमोहिनी, इतिहास-विधायिनी काल-शक्ति से प्रार्थना करते हैं कि वह हमारे बुद्धिजीवियों के विवेक को निर्मल व प्रशस्त करे और उन्हें निरर्थक अहंकारों से मुक्त करे, जिससे सूर्य के प्रकाश में निरंतर वास करते हुए भी सूर्य की सत्ता से इनकार करते हुए चलने का दुराग्रह न करें। बुद्धिजीवी भारत को मात्र 'जन-समूह' जैसा भावहीन 'आइडिया' न मानकर भारतीय 'जन गण' को भारत की धरती, इतिहास-भूगोल और उसके धर्म यानी संस्कार-साधना से जोड़कर पहचानने की आदत डालें।

□

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मन वृंदावन

...आधुनिक मनोविज्ञान देह, मन, बुद्धि और अहंकार (ईगो) की सत्ता मानता है; परंतु इससे आगे की, इससे परे आत्मा की सत्ता में उसका विश्वास नहीं।...जो आत्मा की सत्ता स्वीकार नहीं करते, जो अनर्गल के भय से ग्रस्त, निरंतर विकल-विक्षुब्ध 'अहंकार' को ही आत्मा मान बैठे हैं, उसीकी तुष्टि तथा पुष्टि में अपने लिए और अपने समाज के लिए नित्य नए नरक रचते जाते हैं और प्रत्येक नरक के उद्‌भव की नई-नई दार्शनिक सैद्धांतिक व्याख्या करने के बौद्धिक सुख में तल्लीन हैं, वे लोग काम के बृहत्तर अर्थ, उसकी दिव्य भूमिका और उसकी आत्मिक ऊर्जा का मर्म नहीं समझ पाएँगे। उनका सांस्कृतिक प्रतीक है आज की दिन-पर-दिन विज्ञापित होती हुई 'ब्यूटी इंडस्ट्री'।...

अजय नदी का तट। कदंब खंडी घाट। केंदुबिल्व ग्राम, जिसे आज 'केंदुली' कहते हैं और जो आज भी सहजिया वैष्णवों और वाममार्गियों की तीर्थभूमि है। यहीं के श्मशान में कभी प्रसिद्ध तांत्रिक 'कंगल क्षेपा' रहते थे और आज भी अमावस्या की रातों में दूर-दूर तक रहस्यमय अग्निशिखाएँ दिखाई पड़ जाती हैं। आज से करीब आठ सौ वर्ष पूर्व की बात है। संध्याकाल है। इसी कदंब खंडी के पास एक कुटीर में कवि जयदेव बैठे हैं। देखते-देखते घटाएँ घिर आती हैं। आदिगंत आकाश ढक जाता है। सुंदर श्यामल मेघों की परत-पर-परत चढ़ती जा रही है। आसपास की हरी-भरी धरती, कदंब-पातें, नदी का प्रवहमान वक्ष, समूचा वातावरण ही कोमल और श्यामाभ हो जाता है। सबकुछ का चेहरा ही अचानक बदल जाता है। एक मुहूर्त पहले का साफ-सुथरा और स्पष्ट दृश्य अचानक अपरिचित-सा हो जाता है। प्रमत्त चौंवाई हवा और बीच-बीच में कौंधती विद्युत् रेखा। सबकुछ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनजाना-अनजाना—गोया यह कोई और देश हो, कोई और नदी हो, कोई और घाट हो। फिर हवा में स्तब्धता और कुछ क्षण बाद टप-टप बूँदें। कवि यह देख रहा है। कवि के साथ कवि का मन भी देख रहा है। आँखों से देखना कुछ और है तथा मन से देखना कुछ और। जब मन 'दिदृक्षा' से देखता है तो वह देखना दृश्य नहीं रह जाता है, कुछ और ही हो जाता है; वह दर्शन या झाँकी बन जाता है। जयदेव का मन आज इस पावस-संध्या में सुदूर द्वापर युग के व्रजमंडल के भीतर भांडीर वन की एक संध्या में विचरण कर रहा है। कवि की 'दिदृक्षा' 'सिसृक्षा' में बदल जाती है और मन के रंग एवं संवेदनाएँ एक श्लोक को जन्म देती हैं, जो है 'गीतगोविंद' का मंगल श्लोक—

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे! गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशितश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमम्
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः ॥

(—आकाश मेघों से मेदुरवर्णी और तमालवृक्ष श्यामल हो गए। यह (कृष्ण) अँधेरे से डरता है। तुम्हीं इसे घर पहुँचा दो। इस प्रकार नंद के ही निर्देश से अंधकार में डूबे हुए, कुंजद्रुमों की ओर अग्रसर होते हुए और यमुना तट पर रहस्य-केलि करते हुए राधा-माधव की जय हो!)

और, यह एक अजीब बात है कि 'गीतगोविंद' की विषय-वस्तु वासंती रास है, परंतु उसका मंगल श्लोक है पावस-काव्य। जयदेव जैसा सिद्ध कवि बड़ी आसानी से वासंती मंगल श्लोक लिख सकता था। 'ललितलवंगलतापरिशीलन-कोमलमलयसमीरे' वाली प्रथम अष्टपदी तो वसंत-वर्णन ही है, जो 'गीतगोविंद' में वसंत उद्दीपन की भूमिका में है। जयदेव कहते हैं—'इस वसंत में एक विश्वव्यापी स्मर-चेतना व्याप्त हो रही है। चंचल माधवी लता आम्रवृक्ष के अंकमाल में पुलकित हो उठी है। फलतः उसके अंग-अंग में मंजरियाँ फूट रही हैं और आम्र भी बौरा गया है। सारी हवा आम्रमुकल की गंध से भर उठी है और यमुना तट के पवित्र परिसर में यह काम की वानस्पतिक चेतना हमारी स्मृति और धी में भक्ति-चेतना अंकुरित करती है। कैसी अद्भुत बात है! कामबोध से भक्ति का जन्म। पर बात सही है। यदि पाठक का मन नीरुज, स्वस्थ और अवदमनमुक्त है तो उसकी स्मृति इस यमुना-पुलिन पर राधा-माधव से संयुक्त होगी ही। इस लीला में उसे नारायणीय रस-भक्ति का आस्वादन मिलेगा ही। उक्त मंगल श्लोक के बाद ही तुरंत इस काव्य को पढ़ने और समझने की शर्त भी जयदेव इसीलिए रख देते हैं—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो
यदि विलास-कलासु कुतूहलम्।
मधुर कोमलकान्त पदावलीम्
शृणु तदा जयदेव-सरस्वतीम्॥

(—यदि मन हरि-स्मरण से संपृक्त हो, भाव-प्रवण और भाव-प्लावित हों, साथ ही कला में, साहित्य-संगीत-शिल्प में, 'सुविलास' यानी अवदमनहीन, 'अंत्रणं अस्नाविरं शुद्धं अपाप-विद्धम्' विहार में कुतूहल हो अर्थात् दिलचस्पी हो, तो इस जयदेव की वाणी से प्रसूत मधुर कोमलकांत पदावली को सुनें, अन्यथा नहीं, नहीं तो निरर्थक गलतफहमी होगी।)

भक्ति-प्लावित मन और रसोन्मुख सुरुचि दोनों साथ-साथ चाहिए, अलग-अलग नहीं, एक के बाद दूसरी नहीं। यही जयदेव की क्या, समस्त भारतीय साहित्य को समझने की प्रमुख शर्त है। दमनशील शुद्धतावादी आर्यसमाजी मन से अथवा आधुनिक विकृत, त्रणयुक्त एवं अवदमित कामग्रस्त मन से जयदेव ही नहीं, व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, रवींद्र, निराला—किसीको भी पूरा-पूरा नहीं समझा जा सकता। अवदमनरहित, घाव या व्रणरहित संस्कारी चित्त की साधना के बिना इस साहित्य के मर्म में प्रवेश पाना कठिन है। साहित्य का रस 'क्षुरस्यधाराव्रत' की मनोभूमि में उतरकर ही प्राप्त होता है। तभी इससे 'आनंद' प्राप्त हो सकता है। आनंद सुख या मौज से ऊपर की स्थिति है। यह अविकल बेचैनीरहित, तृप्त और शांत मनःस्थिति है। यह मात्र अनुभव नहीं, अनुभूति है। अनुभव में 'भव' अर्थात् सांसारिकता रहती है और अनुभूति में 'भूति' अर्थात् विभूति। भव-बोध में विभूति तत्त्व की स्थापना ही तो साहित्य का उद्देश्य है।

भगवान हैं 'सद्रूप' और काव्य में सदरूप की अभिव्यक्ति शांत-रस से होती है। पर भक्त के लिए 'सद्' से अधिक 'चिद' और 'आनंद' हैं और वह उन्हें 'रस' रूप में देखता है। श्रुति भी कहती है—'रसो वै सः', क्योंकि उनका चरम स्वभाव 'आनंद' है। वे रस-रूप में शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य रसों में अभिव्यक्त होते हैं। उत्तरोत्तर क्रमिक विकासमान, पंच-रसात्मक अनुभूति की चेतना ही सही भक्ति-चेतना है। इसीसे रसिकता वैष्णव व्यक्तित्व का प्रमुख लक्षण है, इसीसे जयदेव की शर्त है—'विलास-कलासु कुतूहलम' की। शब्द-ब्रह्म, नाद-ब्रह्म, रस-ब्रह्म के रूपों में उनकी उपासना होती है। नाद-ब्रह्म के उपासक हरिदास स्वामी के बारे में कहा जाता है—'ऐसो रसिक भयो ना ह्वै है भूमंडल-आकाश'। सूरदास ने 'पुनि-पुनि रसन के रस' लेख में 'रसन के रस' अर्थात् 'महारस' के रूप में उन्हें

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पहचाना है। इसीसे वैष्णव लोग ईश्वर को 'सत् चित् आनंद' रूप की अपेक्षा 'रस चित् आनंद' रूप में पहचानने के पक्षपाती हैं। एक वैष्णव आगम ग्रंथ 'ब्रह्मसंहिता' में कहा गया है—

'आनन्द चिन्मय रसात्मया मनः सू
य: प्राणिनां प्रतिफल न स्मरता उपत्य।
लीलायितेन भुवनानिजयत्यजस्त्रं
गोविन्द आदि पुरुषं तमहं भजामि॥'

(—आनंद, चिद्-रस की आत्मा (सार) स्वरूप जो काम-बोध है, उसका आश्रय लेकर जो प्रभु समस्त प्राणियों के चित्त में अपने को प्रतिफलित करते हैं और जो सारे भुवनों को (काम के) अजस्त्र रूपों में लीलायित करके विजित कर लेते हैं, उस आदि-पुरुष गोविंद को, 'गो' रूप में इंद्रियों को चरानेवाले गोपाल को हम भजते हैं।)

कहते हैं कि आचार्य सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने अपने जर्मनी प्रवास में इस श्लोक को प्रसिद्ध मनोविज्ञानी फ्रॉयड के सामने प्रस्तुत करके व्याख्या करने को कहा था; परंतु फ्रॉयड इसका मर्म नहीं पकड़ पाए। केवल 'अवचेतन' के आधार पर इस श्लोक की व्याख्या हो ही नहीं सकती और आधुनिक मनोविज्ञान 'ऊर्ध्वचेतन' तक अथवा 'अधि मानस' तक अपना विस्तार नहीं कर पाया है, जिससे इस श्लोक की भावभूमि जुड़ी है। जब तक मनोविज्ञान 'वस्तुगतता' और भौतिकता की स्वयं आरोपित कैद से अपने को मुक्त नहीं कर लेता है और मन-बुद्धि-अहंकार की प्राकृतिक सीमा से अवरुद्ध रहता है, तब तक मनोविज्ञान किसी प्रकार के 'पराप्राकृत' या आत्मिक तत्त्व की बातें समझने में असमर्थ है। सारे नारायणीय काव्य लौकिक रस नहीं, अलौकिक 'महारस' को व्यक्त करते हैं, जो ऊर्ध्वतर मनोविज्ञान की अपेक्षा करता है। लौकिक रसों के सारे स्थायी भाव, रति-उत्साह, निर्वेद आदि अलौकिक रस की भूमि में सहायक या संचारी मात्र रह जाते हैं और ये 'भक्ति' संज्ञक स्थायी भाव को उद्बुद्ध करते हैं। वैष्णव काव्य में भावानुप्रवेश करने पर गृहस्थ या संसारी पाठक का मन लौकिक और अलौकिक—दोनों भावबोधों के रचनात्मक सामंजस्य में स्थित हो जाता है। भारतीय रस-सिद्धांत में लौकिक और अलौकिक—दोनों रस परस्पर विरोधी दिशावाले होते हुए भी एक पूर्णांग वृत्त बनाते हैं। लौकिक का आदि है 'शृंगार' रस और अंतिम है 'शांत'; और फिर अलौकिक का आदि यही 'शांत' बन जाता है तथा यह विरोधी दिशा में आवर्त्त लेते हुए चरम बिंदु पर जाकर 'शृंगार' बन जाता है, अपनी नई संज्ञा 'माधुर्य' को धारण करके। इस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकार एक वृत्त बनता है। इस वृत्त के केंद्र में भगवान् 'महारस' के रूप में स्थित हैं। केंद्र से जुड़ने पर शृंगारिकता और पवित्र माधुर्य में भेद समाप्त हो जाता है। यह एक सूक्ष्म भाव-साधना है। जयदेव अपनी शर्त में इसीका संकेत करते हैं। नीरस पवित्रता और अपवित्र रसिकता—दोनों इसमें अवरोधक हैं। प्राचीन परंपरा के काष्ठव्रित्त हठयोगी और आधुनिक प्रगति के कुत्सित कामासक्त—दोनों की मन-बुद्धि से परे है यह वैष्णव रसभूमि।

अब दूसरी बात की चर्चा करें। उस पावस मनोभूमि की चर्चा करें, जो मंगल श्लोक द्वारा व्यक्त की गई है। यह पावस का संदर्भ हमें काव्य की अधिष्ठान-भूमि की ओर ले जाता है। काव्य की वस्तुगत अधिष्ठान-भूमि है राधा-माधव की प्रेमलीला, जो वृंदावनलीला का मुख्य अंश है और इस लीला की चरम-भूमि है। परंतु इस लीला का प्रस्थान-बिंदु पावस ऋतु में घटित है, जिसका वर्णन पूर्वोक्त श्लोक में हुआ है। कृष्ण राधा से पहली बार इसी घटना के भीतर मिलते हैं और प्रेमलीला का बीजारोपण भांडीर वन की इस संध्या में हो जाता है, जब किशोरी राधा के हाथों नंद बालक कृष्ण को सौंप देते हैं। राधा के मन में शाश्वत लीला की स्मृति के बीज हैं। फलतः वह उन्हें घने कुंजों के एकांत रास्ते से हाथ पकड़कर ले चलती है। इस बात का प्रमाण है उस प्राचीन अनुश्रुति में, जो 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में संकलित है। कहा गया है—'भांडीरे यमुना तीरे बाललीलांचका यह'। कृष्ण की बाललीला का अधिकांश भाग भांडीर वन में ही घटित हुआ था। बलराम ने प्रलंबासुर का वध यहीं किया था।

वैष्णव आचार्यों की एक बड़ी संख्या इस बात से सहमत है कि किशोरलीला अर्थात् रसलीला का आदि बिंदु यही घटना है और रस-उपासना के क्षेत्र में इसका वही महत्त्व है, जो पूरी कृष्णलीला की दृष्टि से जन्माष्टमी प्रसंग का है। इसीसे जयदेव ने लिखा तो वासंती रास का काव्य, परंतु मंगल श्लोक में इस रस-बीज का स्मरण कर लिया। द्वापर युग के उस भांडीर वन की उस संध्या में देखते-देखते काली घटाएँ उमड़ आईं। 'अन्होरी बारी' छा गई। 'अन्होरी बारी' भोजपुरी शब्द है—अर्थ है 'बालिका-अंधकार'; पूर्ण यौवनमत्त रात्रि का अंधकार नहीं, जो दृष्टि का हरण कर लेता है, जो सारे दृश्यों का भक्षण कर जाता है, जो सर्वग्रासी कामना का प्रतीक है; बल्कि हलका-हलका रहस्याच्छादित कमसिन अँधेरा, जो दिन में अचानक छा गई आदिगंतव्यापी घटाओं के कारण उपस्थित होता है, सूर्य छिप जाता है, दिशाएँ अचानक अपरिचित-सी हो जाती हैं। अकेले में लगता है कि सुनसान बाग-बगीचों में वातावरण बदल गया है, गोया अकाल-संध्या उतर आई हो तो इस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कमसिन रहस्याच्छादित तमसा में ताल वन, तमाल वन, कदंब वन और करील-कुंज, जो क्षण-भर पहले सामान्य लगते थे, अचानक श्यामाभ और अपरिचित जैसे लगने लगे। कौंधती बिजली और वेगगामी पवन द्वारा झकझोरी जाती वृक्ष शाखाओं के दृश्य, उनसे निकलता अपरिचित-असामान्य स्वर, विकल यमुना जल की धारा—ये सब मिलकर उस अपरिचित को घनीभूत कर रहे थे, जो कुछ पहले चिर परिचित सुहृद् सखा जैसा था, अब अनजाना-सा बन गया।

ऐसे में नंद अकेले हैं। इस बच्चे कृष्ण को सँभालें कि इधर-उधर घबराकर भागती गौओं को इकट्ठा करें। अकेले छोड़ देने पर तो यह कृष्ण अभी बच्चा है, डर जाएगा। तभी सामने किशोरी राधा दिखाई पड़ती है। नंद पहले से ही पहचानते हैं। बरसाने की छोरी है। 'आह बेटी, भला तू मिल गई। यह कृष्ण तो अभी बच्चा है। अँधेरे से बड़ा डरता है। ले, इसे सँभाल और इसे घर पहुँचा दे।' कहते हुए नंद कृष्ण को राधा के हाथों सौंप देते हैं और चतुर राधा की चेतना में पूर्व स्मृति के बीज हैं, जिनसे वह स्वयं अभी सचेत नहीं, पर वे सक्रिय हैं। अतः वह कृष्ण को सघन श्यामल कुंजों के रहस्य-ढके पथ से ले जाती है। 'ब्रह्मवैवर्त' आगे भी बहुत कुछ कहता है; पर उससे हमारा मतलब नहीं। हमारा तात्पर्य मात्र यही दिखाना है कि वृंदावनलीला का चरम-बिंदु है रास-प्रसंग, तो प्रस्थान-बिंदु है भांडीर वन की यह संध्या। इसीसे जयदेव ने इसे यह प्रमुखता दी है और इसी आधार पर यह मंगल श्लोक पूरे विषय के साथ युक्तिसंगत होता है।

तो भी 'गीतगोविंद' शृंगार रस के भीतर संयोग शृंगार का काव्य नहीं। यह 'भान' और 'भान-भंजन' का काव्य है। सबसे अजीब बात तो यह है कि पूरे काव्य में कहीं भी संकेत नहीं है कि राधा परकीया नायिका है। निंबार्काचार्य, जो राधा-भाव के प्रवर्तक माने जाते हैं, राधा को स्वकीया ही मानते हैं। उनकी शिष्य-परंपरा में माधवेंद्रपुरी आते हैं, जिनके शिष्य थे ईश्वरपुरी और प्रशिष्य थे महाप्रभु चैतन्यदेव; जिन्होंने राधा-भाव की साधना को परकीया प्रतीक द्वारा स्पष्ट किया। 'परकीया-प्रेम' का अर्थ 'परकीया से प्रेम' या 'परकीया का प्रेम' नहीं होता है, लोग गलत अर्थ लगाते हैं। इसका अर्थ होता है 'परकीया जैसा प्रेम', परकीया नायिका जैसा उत्कट, दुर्निवार प्रेमोन्मादन, जो सामाजिक बंधन के कारण और कठोरतर परीक्षा लेता है तथा जो प्रिय के लिए पृथ्वी त्यागने जैसे उत्कट एकांत समर्पण की अपेक्षा करता है। कुछ तो पूर्वी भारत की लोकानुश्रुतियों के प्रभाव से और कुछ महाप्रभु की 'महाभाव' साधना की तीव्रता को व्यक्त करने के लिए, उपमा के रूप में ही इसे 'परकीया रति' की संज्ञा मिल गई।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

महाप्रभु से पूर्व ही चंडीदास और विद्यापति लोकानुश्रुतियों के आधार पर ऐसा काव्य रच चुके थे और महाप्रभु उनकी कविता से बहुत प्रभावित भी थे। इनके पदों का गान उन्हें महाभाव की तन्मयता में प्रवेश करा देता था। चंडीदास, विद्यापति के काव्य में राधा परकीया ही हैं; परंतु महाप्रभु ने राधा-प्रेम की उपमा परकीया रति से दी है, न कि राधा की। नर्मदा तट पर रामानंद राय से प्रेम-धर्म के बारे में जो चर्चा होती है, उसमें किसी प्रकार की प्रेमेतर कामना से तटस्थ और चरम ईश्वरीय प्रेम को, ईश्वर के प्रति चरम एकांत समर्पण को उन्होंने परकीया रति की तीव्रता के साथ तुलित किया है और 'महाभाव' की तीव्रता एवं उत्कटता को व्यक्त करने के लिए उन्होंने इस शब्द का आश्रय लिया है। बस, इतनी-सी ही बात है। इसका यह अर्थ नहीं कि मानुषी संदर्भ में भी परकीया रति को प्रामाणिकता दी गई है। इस परकीया रति की बात पहले-पहल रामानंद राय ही कहते हैं और महाप्रभु इसके लिए शास्त्र-प्रमाण माँगते हैं। रामानंद राय का उत्तर होता है, 'शास्त्र-प्रमाण है जयदेव गोस्वामी का 'गीतगोविंद'।' चैतन्य मत में ही नहीं, वल्लभाचार्य के संप्रदाय में भी जयदेव शास्त्र-प्रमाण है। वल्लभाचार्य की राधा और उनके शिष्य सूरदास की राधा 'स्वकीया' हैं। पर जयदेव गोस्वामी भी इस मत की गुरु परंपरा में मान्य हैं—

'विष्णु स्वामी समारम्भां, जयदेवादि-मध्यगाम्।
श्रीमद्वल्लभ-पर्यन्तां स्तुमो गुरु-परम्पराम्॥'

यानी विष्णु स्वामी और वल्लभाचार्य के बीच जयदेव कड़ी हैं।

'गीतगोविंद' के अनेक पदों के साथ, यथा—'धीर-समीरे यमुना तीरे' अथवा 'दिशिदिशि पश्यति रहसि भवन्तम्' या 'देहि पद्-पल्लवमुदारम्' आदि के साथ दिव्यता की किंवदंतियाँ जुड़ी हैं। वैष्णव लोग इसको अशुचि परिवेश और अपवित्र संगत में पढ़ते नहीं हैं। उनका विश्वास है कि इसकी पंक्तियों के उच्चारण से कृष्ण की अदृश्य उपस्थिति हो जाती है। अपने-अपने विश्वास की बात है। पर इससे इसके मर्म के प्रति वैष्णव दृष्टि की प्रकृति का पता तो चल ही जाता है। इस काव्य की भानलीला के भीतर तीव्रोन्मादन की ऐसी पराकाष्ठा है, जो परकीया भाव की समाकृति है और राधा के स्वकीया चरित्र के भीतर शब्द और अर्थ के आंतरिक संगीत द्वारा ऐसी भाव-संवेदना भर दी गई है कि वह परकीया प्रेम की उत्कटता के समानांतर जाती है, इसीसे पाठक को भ्रांति हो जाती है। जयदेव तो अपनी ओर से इसके पढ़ने की शर्त बता ही देते हैं। भक्ति-प्लावित सरस मन और रसिक रुचि—दोनों का संहितत्व इसके लिए अनिवार्य है। रमणी में जो लौकिक काम रस है, वही श्रीकृष्ण संदर्भ में भक्ति से प्रक्षालित 'मधुर रस' बन जाता है। श्रीकृष्ण संदर्भ के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बाहर यह अर्थहीन है। बिना वैष्णव मन के यह वाणी सामान्य पाठक के लिए कुत्सित काक-तीर्थ बन जाएगी। दिक्कत की बात यह है कि आधुनिक पाठक इसे मात्र काव्य-ग्रंथ के रूप में पढ़ता है, जयदेव द्वारा प्रस्तावित शर्त के बाहर जाकर इसका अर्थ लगाता है और फल होता है भ्रांति। वैष्णव लोग तो बार-बार कहते हैं कि 'मन वृंदावन' के बाहर इस परकीया भाव का अस्तित्व नहीं।

उस काल का ऐतिहासिक परिवेश ऐसा था कि सारा पूर्वी भारत बौद्ध महायान के गलित रूपों—वज्रयान और सहजयान—की बाढ़ में डूब रहा था। कामवृत्ति जीवन के सृजन का स्रोत है; पर वही आत्मक्षयी सुरा बन चुकी थी। आखिर पवित्र अन्न को ही गलित करके तो सुरा भी बनती है। क्या राजा-राजन्य, क्या जन सामान्य—सभी काम-भुजंग से ग्रस्त थे। समाज का संशोधन या परिष्कार न तो राजशक्ति के माध्यम से संभव था और न विद्याशक्ति से। ज्ञान निरर्थक बन गया और क्रियाशक्ति पंगु। इन दोनों की मूल निर्देशिका इच्छाशक्ति काम-ज्वर से ग्रस्त हो गई थी। रोग मूलतः मानसिक था, अतः उपचार भी मानसिक होना चाहिए। वैष्णव प्रज्ञा ने प्रेम-धर्म के माध्यम से इच्छाशक्ति का रागात्मक उपचार करने का निर्देश दिया। कामदेव को महाभाव की रागात्मक ऊँचाई पर ले जाकर समाज के मन की काम-ग्रंथि का उपचार करने का सूत्र जिन आचार्यों ने प्रतिपादित किया, उनमें जयदेव गोस्वामी प्रमुख और प्रथम थे, इसीसे वैष्णवों के दो प्रमुख संप्रदायों ने उन्हें शास्त्र-पुरुष की मर्यादा दी है।

उपनिषद् कहते हैं, जब सूर्य अस्त हो जाए, चंद्र अस्त हो जाए, अग्नि शांत हो जाए, वाणी भी भय से स्तब्ध या सम्मोहन से अर्थहीन प्रलाप बन जाए, शब्दों का अर्थ ही विवादास्पद हो जाए (जैसाकि आज हो रहा है) तो ऐसी स्थिति में पुरुष के बच निकलने का मार्ग एक ही है—आत्मस्थ हो जाना, आत्मा की ज्योति से इतिहास के गहन भयावह अंधकार को पार कर जाना। मध्यकाल में वैष्णवों ने इस सूत्र का सफल प्रयोग किया है। आत्मा के सत्-चित्-आनंद के आयामों में केवल आनंद के आयाम पर अपने को स्थापित करके उन्होंने उन्मुक्त विलास और कामुकता की काल-रात्रि को चुनौती दी। बंगाल में जहाँ गौड़ीय वैष्णव मत का प्रवाह चला, आधारभूत लोक-संस्कृति में सहजयान के काम-धर्म का प्रभाव दृढ़मूल था। वैष्णवों ने सहजयान के मुहावरे और रीति को ही पकड़कर उसके भीतर अपना मर्म, अपनी अध्यात्म-चिंता को प्रतिष्ठित कर दिया। फलतः उस काम-धर्म का आत्मिक रूपांतर घटित हो गया। सहजयान मूलतः बौद्ध वज्रयान का ही एकलोक संस्करण था; पर इसकी भी अपनी निजी शब्दावली और निजी चिंतन-पद्धति थी। महाप्रभु के सहयोगी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नित्यानंद ने प्रायः अंत्यज एवं छोटी जातियों और उनमें प्रचलित सहजयानी वर्गों को वैष्णव दीक्षा दी थी। तथ्य तो यह है कि शुद्ध धार्मिक स्तर पर यह सहजयान शाखा भी देह-साधना के रूप में स्वीकृत नहीं थी। यह भी दैहिक काम को आधार बनाकर एकभाव-साधना का ही मार्ग था। उसमें 'परकीया' शब्द 'प्रेम' का विशेषण मात्र ही था। सहजयानियों के अनुसार, प्रेम के आठ क्रमिक सोपान हैं—रति, प्रीति, स्नेह, भाव, प्रणय, राग, अनुराग और महाराग। चैतन्य संप्रदाय के भीतर पूर्वराग, राग, अनुराग और महाराग अथवा महाभाव की अपनी निजी परिभाषाओं के मूल में इस सहजयानी चिंतन का आवेश है। सहजयान-प्रेम की सामान्य संज्ञा है 'पिरीति' अर्थात् 'प्रीति'। वज्रयानियों की इस 'सिद्धयोगिनी-साधना', मंत्रयानियों की 'सिद्धविद्या-साधना', सहजयानियों की 'पिरीति' साधना का लक्ष्य था देह के भीतर दिव्य शक्ति का जागरण, अर्थात् सिद्धतनुता की प्राप्ति।

वैष्णवों ने इनके साधन और लक्ष्य दोनों को पवित्र और परिष्कृत करके ईश्वरीय प्रेम की ओर अदात्तीकरण किया। यह एक बड़ी सामाजिक उपलब्धि थी। तो भी गौड़ीय वैष्णवों पर लोक-प्रचलित धर्म की अनुश्रुतियों और परंपराओं का प्रभाव पड़ा। उनमें से 'परकीया रति' प्रमुख है। चंडीदास ने, जो चैतन्यदेव से बहुत पहले हुए हैं, 'कृष्ण-कीर्तन' लिखा है। ये पूर्व सूरिगण कृष्णकथा को परकीया ऐंठन दे चुके थे। महाप्रभु को उसे स्वीकार करके उसी ढाँचे में काम करना पड़ा। इन्हीं पूर्व सूरियों के प्रभाव से परवर्ती चैतन्य-प्रतिपादित प्रेम-धर्म में भी सहजयानियों की भंगिमा और पूर्व सूरियों की शब्दावली का अनुप्रवेश हो गया। कुछ शब्दों के अर्थ तो अनोखे हैं; जैसे एक शब्द है 'अभियोग'। इसका शाब्दिक अर्थ होगा 'अभि' (विशेष रूप से) 'योग' (युक्त करना) अर्थात् किसी व्यक्ति, घटना या संदर्भ से किसीको विशेष रूप से जोड़ देना। हिंदी में इस शब्द का अर्थ है किसी अपराध या मामले-मुकदमे में किसीको फँसाना। पर प्राचीन बंगाली वैष्णव पदावली में इसका अर्थ है प्रेम में फँसाने की युक्ति या उपाय। जैसे नायिका जा रही है, उसे दिखाकर पेड़ की छोटी-सी टहनी या पत्र-गुच्छ को तोड़ लेना, किसी वृक्ष के कच्चे किसलय को उसे दिखाकर दाँत से काटना, फिर फेंक देना; फूल, माला या रूमाल जैसी कोई चीज जल में प्रवाहित कर देना आदि। भोजपुरी में 'योग-टोट' का एक मुहावरा चलता है। 'टोट' तो 'टोटका' या अभिचार है और 'योग' संभवतः इसी प्रकार का आकर्षित करने का तंत्र। प्रत्येक क्षेत्र की वैष्णव संस्कृति में स्थानीय लोक-संस्कृति की भाव-रूढ़ियाँ आ गई हैं। ऐसा होना स्वाभाविक है।

सहजयान का एक निजी वैष्णव संस्करण भी है। इसके मुख्य देवता 'मदन-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

काम' हैं। इसमें 'मदन' हैं राधा और 'काम' हैं कृष्ण। काम का आधारभूत अर्थ तो कामना या इच्छा है। इच्छा तो कई तरह की होती है—सख्य, वात्सल्य या दास्य भाव भी तो 'काम' या 'इच्छा' के ही रूप हैं। ये सब श्रीकृष्ण के 'बोध' हैं; परंतु काम का सर्वोत्कृष्ट रूप है उसका 'मदन' रूप और वही चरम आनंद का स्रोत है। वह है 'राधा'। वैष्णवों ने इसी बात को इस प्रकार कहा कि राधा ही कृष्ण की 'ल्हादिनी' शक्ति हैं। सामान्य दैनिक जीवन में भी यदि चिड़चिड़ापन है, किसीके प्रति प्रेम नहीं, प्रीति नहीं, अनुकंपा नहीं, दांपत्य जीवन में सुख नहीं, तो वैष्णव कहते हैं कि भगवान् की ल्हादिनी शक्ति उस व्यक्ति पर रुष्ट है, उसे मन को सरस-कोमल करने के लिए उस शक्ति की उपासना करनी चाहिए। 'ल्हादिनी' की जीवन-जगत् में एक वैश्विक भूमिका है। 'जिजीविषा' अर्थात् जीवन जीने की इच्छा के मूल में यही है। जब चुक जाती है तो उस देश या व्यक्ति की जिजीविषा चुक जाती है। यह वस्तुतः अपनी ही आत्मा के साथ एक मूलगत रसमय संबंध का नाम है।

'गीतगोविंद' की कथागत या वस्तुगत अधिष्ठान-भूमि की हमने चर्चा की, जिसका संबंध द्वापर की कृष्णलीला के वासंती रास से है और यह कथा का एक प्रमुख अंग है। परंतु इसकी एक 'शाश्वत' अधिष्ठान-भूमि है, शाश्वत के साथ-साथ सार्वभौम भी, अतः इसकी अल्प चर्चा आवश्यक है। इस शाश्वत अधिष्ठान-भूमि का मर्म व्यंजना के पथ से प्राप्त होता है। अभिधार्थ में जो द्वापर युग में घटित राधा-माधव की लीला है, व्यंजनार्थ में वह एक देशकाल-निरपेक्ष शाश्वत आत्मिक अनुभव है। यह लीला विश्व में नित्य चल रही है। उसीको हम अपने भीतर आत्मिक अनुभव के रूप में भी प्राप्त कर सकते हैं। हमारे भीतर ही नंद हैं, कृष्ण हैं, राधा हैं। तमसाच्छन्न पावस है, अँधेरा है और राधा की उँगली भी है, जिसे पकड़कर नादान अबूझ 'काम' बोध के रूप में शिशु कृष्ण चल रहा है। मनुष्य का त्रिआयामी, 'सत्-चित्-आनंद' रूप आत्मा के भीतर आनंद की वृत्ति नित्य वर्तमान है। यह 'आनंद' वृत्ति ही नंद है। काम-चेतना या स्मर-चेतना इसीकी संतान है। यही है हमारे भीतर की कृष्ण-चेतना, यानी भीतर का नित्य कृष्ण। शिशु कृष्ण काम-चेतना के प्रारंभिक नादान-बोध का ही प्रतीक है। राधा 'आत्मा' की 'ल्हादिनी' शक्ति है, जो आत्मा की ईश्वरी कला है। हमारे भीतर की आनंद-वृत्ति सद्यःजात या नवजात काम-चेतना को आत्मा की इस ल्हादिनी शक्ति के जिम्मे सौंप देती है जिससे कि यह काम-चेतना हमारे 'तमसा-रजसावृत्त' संसारी जीवन के अंधकार में फिसलकर कुमार्गगामी न बन जाए।

कृष्णकथा में राधा ही कृष्ण को राग-अनुराग-महाराग के पथ पर संचारण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करती हुई महाभाव तक ले जाती है। वैसे ही हमारे भीतर की काम-चेतना का संपर्क जब भीतर की ल्हादिनी शक्ति से जुड़ता है तो जीवन महाभाव को लब्ध कर लेता है। यह ल्हादिनी शक्ति और कुछ नहीं, भगवान् के प्रति एकांत समर्पण से उत्पन्न नैतिक, मानसिक ऊर्जा का ही दूसरा नाम है। इसके संरक्षण में चलने पर हमारी काम-चेतना लालसा के कुटिल अंधकार में भी भटक नहीं पाएगी और 'मार' की तीनों कन्याओं—आर्ति-रति-तृषा—के कुहुकी इंद्रजाल से सुरक्षित रह जाएगी। काम चेतना तब प्रलुब्धन (Seduction), बलात्कार और अवदमन का शिकार नहीं बनेगी। रति-प्रीति, राग-अनुराग के रास्ते से चलकर यह दल-प्रतिदल प्रस्फुटित होते हुए, अवदमनमुक्त मन में 'काम-बोध' को 'माधुर्य' में परिणत करने का एक सहज सूत्र है।

महाप्रभु ने तत्कालीन समाज के काम-विकल, अशांत, दुर्दशाग्रस्त रूप को देखा था और इसीसे उन्होंने 'राधा-भाव' की उपासना का प्रस्ताव किया था। गौड़ीय वैष्णव मत इसीसे 'राधा' केंद्रित है, 'कृष्ण' केंद्रित नहीं। यह प्रकारांतर से शक्ति-उपासना है। राधा ल्हादिनी शक्ति है और इस अर्थ में प्रत्येक गौड़ीय वैष्णव भीतर-भीतर शाक्त भी है। गौड़ीय वैष्णव कहते हैं कि इस भाव का उदय प्रयत्न या साधन से नहीं होता, भगवद्कृपा से होता है और भगवद्-अनुग्रह तब लब्ध होता है, जब राधा-सहचर कृष्ण के प्रति एकांत समर्पण और भक्ति हो। 'कृष्ण और राधा में अद्वैत है', इस भाव की विद्यमानता में ही यह समर्पण जीवन में सक्रिय फल देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य के भीतर निहित काम-संवेग के उदात्तीकरण और नीरुज्करण का सूत्र देता है 'गीतगोविंद' का यह मंगल श्लोक। इसकी व्यंजनागत अधिष्ठान-भूमि 'मन वृंदावन' है और यह मन वृंदावन नित्य और देशकाल निरपेक्ष है। द्वापर की ऐतिहासिकता से इसका कुछ लेना-देना नहीं है।

काम-चेतना के उदात्तीकरण की बात आधुनिक मनोविज्ञान भी अपनी सेक्युलर वैज्ञानिक भाषा में करता है। आधुनिक काम-बोध अवदमित वासना, अंधी आत्मरति एवं क्रूर उपरति से पीड़ित है। यह मनुष्य की इच्छाशक्ति को ही विकृत और चपटी कर रहा है। फलत: उसका 'ज्ञान' निरर्थक और 'क्रिया' विकृत-विकलांग बनती जा रही है। आज मूल समस्या है, मनुष्य की इच्छाशक्ति को कैसे नीरुज् किया जाए। काम-चेतना इसी इच्छाशक्ति का एक प्रमुख संवेग है। आधुनिक मनोविज्ञान इसके समाधान की चिंता तो करता है, परंतु उसका 'श्रीगणेशाय नम:' ही गलत है। वह अपने चिंतन से ईश्वर तत्त्व को निरस्त करके और देह की तरह मन को भी 'वस्तुगत' रूप में लेते हुए इसका समाधान खोजना चाहता है। वह उदात्त रोमांटिक प्रेम तक ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जा पाता है। परंतु ऐसी रोमांटिक उदात्तता, चाहे वह कितनी भी ऊँची क्यों न हो, क्षणभंगुर ही होती है और वह जीवन-धर्म को दीर्घकालीन आधार नहीं दे पाती। वह अपने चरम रूप में भी भावुक जीवन-धर्म मात्र है, वह जीवनव्यापी आत्मा का 'जीवन-धर्म' नहीं बन पाएगी। मात्र दैहिक और 'अदिव्य' की उँगली पकड़कर चलने पर किसी क्षण रति, आर्ति और तृषा में फिसल जाने का डर सदा ही बना रहता है। अत: जीवन में आत्मिक शक्ति का हस्तक्षेप ऐसे क्षण में आवश्यक है।

दिक्कत की बात तो यह है कि आधुनिक मनोविज्ञान देह, मन, बुद्धि और अहंकार (ईगो) की सत्ता मानता है; परंतु इससे आगे की, इससे परे 'आत्मा' की सत्ता में उसका विश्वास नहीं। आगे का क्षेत्र ऐसा क्षेत्र है कि उसे 'धर्म' से जुड़ जाना पड़ेगा और फल होगा उसकी वैज्ञानिकता की तौहीनी। समस्या के मूल में वैज्ञानिक बुद्धि का यही अहंकार है। परंतु हमारे जीवन के मूल में है रागतत्त्व। वैदिक भाषा में यही 'काम' कहा गया है। इसका आधुनिक अर्थ बड़ा ही क्षुद्र और सीमित हो गया है। आज की भाषा में यह मात्र 'यौन-संवेग' का पर्याय है, जो इसकी एक कला मात्र है। काम का पूर्णांग अर्थ बड़ा व्यापक है। यह संपूर्ण इच्छा तत्त्व का द्योतक है। यह मात्र पुरुष-नारी का यौनाकर्षण नहीं, यह हमारे सारे कार्य-व्यापारों के मूल में है। यह काम ही है जो व्यक्ति को व्यक्ति से, व्यक्ति को परिवार और जगत् से बाँधे है। यह माया की मूल आकर्षण शक्ति का नाम है। परंतु जो आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करते, जो अनर्गल के भय से ग्रस्त, निरंतर विकल-विक्षुब्ध 'अहंकार' को ही आत्मा मान बैठे हैं, उसीकी तुष्टि और पुष्टि में अपने लिए और अपने समाज के लिए नित्य नए नरक रचते जाते हैं और प्रत्येक नरक के उद्‌भव की नई-नई दार्शनिक-सैद्धांतिक व्याख्या करने के बौद्धिक सुख में तल्लीन हैं, वे लोग काम के बृहत्तर अर्थ, उसकी दिव्य भूमिका और उसकी आत्मिक ऊर्जा का मर्म नहीं समझ पाएँगे। उनका सांस्कृतिक प्रतीक है आज की दिन-पर-दिन विज्ञापित होती हुई 'ब्यूटी इंडस्ट्री' (Beauty Industry) यानी सौंदर्य-प्रसाधन उद्योग। परंतु वैष्णवों ने इस 'काम' की आत्मिक ऊर्जा और इसके संयोजन का सूत्र पहचाना था। उनके समूचे वाङ्मय का व्यंजनागत मर्म समझ लेने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है।

व्यंजना-वृत्ति आर्ष साहित्य में साहित्य के चरम बल के रूप में स्वीकृत थी। आधुनिक युग यथार्थ का युग बनकर आया। लोग 'यथा तथ्य' से आगे का सत्य पहचानने में धीरे-धीरे असमर्थ हो गए। सबकुछ को वस्तु के रूप में, तर्क-आश्रित पद्धति के तहत समझने का एकमात्र आग्रह उन्हें व्यंजनागत मर्म से और दूर करता गया। परंतु भारतीय साहित्य के बहुलांश को समझने के लिए व्यंजना के सिवा और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कोई रास्ता ही नहीं। व्यंजना के बल पर ही 'वाङ्मनसा अगोचर' अनुभवों को भाषा की कमंद में फँसाकर वैखरी वाणी के धरातल तक खींच लाया गया है। भारतीय चिंतन ने भी व्यंजना को अपार महत्त्व दिया है। उसके अनुसार तो सारी सृष्टि, सारा सृजन ही व्यंजनाधर्मी होता है। ईश्वर सृष्टि रचकर अपनी ही व्यंजना करता है। दिक्काल के एकांत में त्रिलोचन पुरुष अट्टहास करता है और उत्तर दिशा का समस्त राशिभूत हिम उसी हँसी की व्यंजना है। उस उन्मत्त विराट् हँसी को अभिव्यक्त करने का और कौन-सा उपाय है कवि के पास, सिवा आदिगंत-प्रसारी श्वेत हिमराशि के बिंब के! नटराज के डमरू से व्यंजना होती है सृष्टि और स्थिति के खेल की। ध्वनि से शब्द, शब्द से रूप, रूप से नाम, नाम से माया-जगत्, यह माया-जगत् रागतत्त्व पर टिका है और स्थिति की अवस्था में है और इसकी व्यंजना करती है कृष्ण की मधुर मुरली-धुन।

महाकाल की चेतना में सारा जगत्-प्रपंच पूर्व स्मृति के 'आइडिया' के रूप में था। सारे आइडिया, सारे स्मृति-खंड एक साथ महाविस्फोट के रूप में अभिव्यक्त हो गए और यही बन गया विराट् अट्टहास। उसकी हँसी के वे टुकड़े ही अलग-अलग घनीभूत होकर वन, पर्वत, नदी, समुद्र, जीव-जगत् और वृक्ष-जगत् का रूप लेते गए और यह सृष्टि वही 'बिंब' है, चित्रकल्प है, जो उस अट्टहासवाले की सत्ता का संकेत करता है। व्यंजना संकेत द्वारा ही तो अर्थ खोलती है। सारी सृष्टि ध्वनि है, शब्द है, काव्य-पाठ है; और अर्थ है महाकाल शिव। कृष्ण की मुरली-धुन संगीत है, लय है, ध्वनि-सामंजस्य है; जो व्यक्त होती है—प्रेम, स्नेह, ममता, करुणा, राग और अनुराग के रूपों में; जिसे हम पत्नी, पुत्र, परिवार, समाज, देश आदि घनीभूत स्थूल आकृतियों में लब्ध करते हैं और जगत् इसीके राग पर टिका हुआ है। यह मुरली-धुन जिसे सुनाई न दे, उसे जीवन निरर्थक और रसहीन लगता है। अपत्य-स्नेह, बंधु-स्नेह, नारी-संगम, भोज-पान, घर-बार—सबकुछ नीरस हो जाता है। जिजीविषा चुक जाती है, कर्मेच्छा समाप्त हो जाती है, जीवन के प्रति सारे आकर्षण बिदा हो जाते हैं। कटुता, तिक्तता, ग्लानि और संत्रास ही बस भाव-बोध रह जाते हैं और मनुष्य को अकेलेपन के असहाय, हताशा-भरे सुनसान में ठेल देते हैं। यही है आज का अस्तित्ववाद। आज के सेक्युलर मनुष्य को उसकी नियति इसी ओर ठेलती जा रही है। यह सारा माया-जगत् स्वादिष्ट और रसमय तभी तक लगता है जब तक हम इसके भीतर ईश्वर की मुसकराहट का कोई रूप अनुभव करने की क्षमता रखते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सारा सृजन ही, चाहे वह ईश्वर का हो या कवि का या शिल्पी का, एक अभिव्यक्ति है और अभिव्यक्ति की मूल अर्थवृत्ति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है व्यंजनावृत्ति। साहित्य में रस इसी अर्थ में 'अभिव्यक्त' माना गया है। 'व्यंजना' 'रस' की होती है किसी अभिव्यक्त के माध्यम से। व्यंजना के द्वारा ही भारतीय साहित्य का सामग्रिक बोध है 'रसो वै स:'।

आज सबसे बड़ी कठिनाई आधुनिक पाठक या रसिक की मन-बुद्धि को लेकर है, जो विश्वविद्यालय-प्रसूत नवशिक्षा के द्वारा पश्चिमी संस्कार का उपनिवेश बन चुकी है। स्वतंत्रता के बाद यह 'बौद्धिक उपनिवेश' और व्यापक तथा विस्तृत होता गया है। यह भारतीय साहित्य लिखा गया है तीन-चार हजार वर्षों में एक देशी चिंतन-पद्धति के तहत और देशी संस्कारों से उद्भूत मानसिकता, बौद्धिकता के माध्यम से; और उसे विगत सौ या डेढ़ सौ वर्षों से विश्वविद्यालय पढ़ाते रहे हैं तथा राष्ट्रीय प्रेस प्रचारित करता रहा है—एक भिन्न चिंतन-पद्धति के माध्यम से, एक भिन्न प्रकार की मानसिक, बौद्धिक भंगिमा के माध्यम से। अत: व्यंजना के महत्त्व को स्वीकार करने की, उसमें रस पाने की क्षमता का ही लोप होता रहा है। अंग्रेजी वाङ्मय और अंग्रेजी अनुवाद के जरिए भारतीय वाङ्मय का मर्म पकड़ना कठिन है। अनूदित भाषा में 'रस' की व्यंजना कर पाना कठिन होता है। हम अपनी संस्कृति को उसके अंग्रेजी अनुवाद से समझने की चेष्टा करते हैं। व्यक्तित्व का अनुवाद कहीं होता है? हमारा परिचय भारतवर्ष के 'सांस्कृतिक व्यक्तित्व' के मूल रूप से नहीं, अंग्रेजी या विलायती विद्वानों की नजरों में देखे गए उसके विलायती संस्करण से ही है। हमारे 'सांस्कृतिक व्यक्तित्व' को उनके द्वारा निरूपित संस्कारों के माध्यम से समझने की चेष्टा वैसी ही अधूरी और हास्यास्पद है जैसे 'गजगामिनी' शब्द का मर्म 'एलिफेंट गेटेड लेडी' के रूप में समझने की चेष्टा। इस मानसिकता में प्रशिक्षित नया पंडित मूल पाठ भी पढ़े तो अभिधागत अर्थ से ज्यादा वह समझ नहीं पाता। 'राधा' और 'कृष्ण' को वह रोमियो-जूलियट के साँचे पर परखता है और उनके वस्तुपत मानुषी रूप से आगे वह जा नहीं पाता। वह समझ नहीं पाता कि 'राधा' और 'कृष्ण'—ये शब्द इतिहास से मुक्त, देश-काल-सीमा से मुक्त एक 'आत्मिक बोध' की व्यंजना है, जिसमें इन शब्दों के वस्तुगत और अभिधागत प्रकार के 'बोध' के अनुभव के वस्तुगत और अभिधागत अर्थ पर बल देना उस बोध को व्यर्थ या बौना करना है। आधुनिक शिक्षा और आधुनिक चिंतन (समाज, देश, धर्म सबकुछ के बारे में चिंतन) का जन्म-लग्न पड़ता है उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में।

पश्चिम उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में हर बात को 'वस्तुगत' व्याख्या देने के फेर में था। सबकुछ 'वस्तु' (Object) है, 'रहस्य' कुछ भी नहीं। उस कालखंड में सर्वाधिक बिकनेवाली किताबें हैं—डार्विन की 'ओरीजिन ऑफ स्पिसीज' और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रेनन का 'लाइफ ऑफ जीसस्'। इसमें रेनन ने यीशु के चरित्र की हर एक 'मिस्ट्री' को वस्तुगत व्याख्या देने की चेष्टा की है और उन्हें एक मनुष्य के रूप में व्यक्त किया है, तत्कालीन पाठक को उनकी यथार्थता के प्रति आश्वस्त करने के लिए। इसी फैशन के अनुकरण पर धर्मानंद कौशांबी ने 'बुद्धचरित' लिखा है। महायान के पंडितों और योगियों ने शताब्दी-दर-शताब्दी चिंतन-साधना करके बुद्ध के 'बिंब' को ऐहिक इतिहास की वस्तुगत सीमाओं से मुक्त किया और एक 'लोकोत्तर बुद्ध' का आइडिया स्थापित किया तथा बुद्ध के ऐतिहासिक रूप को निरस्त करके बुद्ध को एक महाभाव या एक 'महानुभव' के रूप में प्रतिष्ठित किया। उसके स्थान पर आधुनिक चिंतन-पद्धति में धर्मानंद कौशांबी ने एक वास्तविक बुंद्ध का, किसी प्रकार की उच्चतर भाव-प्रेरणा से रहित मानुषी बुद्ध का विकल्प सामने रखा है। यह युग यह मानने के लिए तैयार नहीं है कि सृष्टि में कुछ ऐसा भी होता है, जो 'सामान्य' नहीं, असामान्य और महत् होता है और उसपर सामान्य की वस्तुगत कसौटी लागू करना अन्याय है। यह वही काल है, जिसमें फ्रॉयड ने विश्व की सारी महत् घटनाओं को महापुरुषीय व्यक्तित्वों को भी 'सेक्स' के क्षुद्र स्तर पर उतारकर एक विकृत तार्किक व्याख्या देना शुरू किया। इसी प्रकार की मानसिकता के प्रवाह के बीच भारत में विश्वविद्यालयी नवशिक्षा का प्रारंभ हुआ और यह शिक्षा अपने जन्म-लग्न से जुड़ी 'वास्तविक' या 'वस्तुगत' की सीमा से सर्वदा आबद्ध रही। रवींद्रनाथ, अरविंद और विवेकानंद ने प्रतिवाद किया था, जो बाह्य वास्तविकता है, जो वस्तुगत रूप है, वही संपूर्ण 'सत्य' नहीं। 'सत्य' और 'वास्तव' दो कोटियाँ हैं।

सत्ता का यानी जीवन का एक बहुत बड़ा अंश तो 'रहस्य' है और यह रहस्य 'हृदयोनाभ्यनुज्ञातः' है, यह 'हृदय' के माध्यम से जाना जा सकता है, वस्तुवादी पथ पर चालित तर्क-बुद्धि द्वारा नहीं। स्मरण रहे कि 'हृदय' का अर्थ भारतीय चिंतन परंपरा में 'मन', 'प्रज्ञा' और 'आत्मा' भी होता है। इस रहस्य को जानने का एकमात्र उपाय है व्यंजना का पथ। 'अंतरानुभूति' पर आधारित 'आत्मिक बोध' का मार्ग व्यंजना की ही ओर इशारा करता है। 'अंतरावस्थित क्राइस्ट' (Christ within), 'बुद्ध-हृदय' और 'घट-घट राम' की बात समझता हो तो फिर 'व्यंजना' ही एक मात्र मार्ग है। इधर नव ईसाई चिंतन में भी उन्नीसवीं शती की वस्तुगत परंपरा के प्रति विद्रोह प्रारंभ हुआ है। वे एक ऐसे धर्म-चिंतन को प्रमुखता देने लगे हैं, जो 'वस्तुगत' और 'ऐतिहासिक' यीशु से निरपेक्ष और स्वतंत्र 'यीशु को एक 'अंतरानुभूति' के रूप में प्रमुखता देता है।

भारतीय बौद्धिक समाज तो पूरी कट्टरता से अपनी विश्वविद्यालयी शिक्षा की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चिंतन-पद्धति से चिपका हुआ है; परंतु इससे साहित्य-चिंतन और इतिहास-दृष्टि में अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ आ जाती हैं। ऐसे में भक्ति-रस, ल्हादिनी चेतना, राधा-माधव और 'गीतगोविंद' के व्यंजनागत मर्म की बात कौन करे! कौन रीझेगा, कौन रिझाएगा? परंतु इन बातों का मर्म तो रीझने-रिझानेवालों के सत्संग में ही खुलता है और आज 'सत्संग' का रूप भी भ्रष्टाचार लिप्त है। तो भी 'सत्संग' एक सही मार्ग है। 'संशय' का निराकरण तर्क से नहीं, 'सत्संग' से होता है, यही तो वैष्णव-पद्धति है। अध्ययन-गोष्ठियों और सेमिनारों में कुतर्क बोलता है और कभी-कभी तो ये गोष्ठियाँ इतनी दु:शील हो जाती हैं कि विचार-मंथन के स्थान पर आदि से अंत तक 'बहस' और वकालत ही मिलती है। ऐसे परिवेश में भक्ति की मानसिकता एक संस्कार-साधना के उपरांत लब्ध होती है। तभी भक्ति के भीतर स्थापित व्यंजना-वृत्ति की पकड़ लब्ध हो पाती है। इसमें जो तत्त्व स्थापित है, वैष्णव उसे ही एकमात्र 'वस्तु' (शेष सबकुछ अलीक और माया है) और 'परम तत्त्व' मानते हैं, यह 'परम तत्त्व' मन की गंगा के उस पार स्थित है। उसे देख न पाने पर भी हम उसकी मुरली धुन नित्य सुन सकते हैं। मुरली-धुन सुनाई पड़ रही है, अत: वह 'है'। वही परम 'अस्ति' तत्त्व है। उसी तत्त्व के प्रति अभिसार यात्रा का नाम है 'भक्ति'। वैष्णव साहित्य के अभिसार वर्णन इसी तथ्य की व्यंजना करते हैं।

'मंदिर बाहर कठिन कपाट,
चलइत पंकिल संकिल वाट।
हे सखि, काह करब अभिसार,
हरि, रह मानस-सुरधुनि पार।'

हमारा मन आधुनिकता के वस्तुगत चिंतन के कपाट से अवरुद्ध है। बाहर की वंशी धुन और चंद्र-विगलित ज्योत्स्ना हमें बार-बार बुला रही है। असह्य है इस आमंत्रण का प्रत्याख्यान करना। पथ भी तर्कयुक्ति की पक्की सड़क नहीं है; रहस्य का पंकिल, फिसलन-भरा, संकीर्ण पथ है, कभी भी पतन हो सकता है। पर मानस-सुरधुनि के उस पार से एकमात्र 'वस्तु' या परम 'सत्य' जो स्थित है, बार-बार अपनी अनुराग बाँसुरी से संकेत भेज रहा है। आज की शताब्दी बार-बार व्यंग्य विद्रूप करती है इस वैष्णव बोध पर, तो भी धुन तो निरंतर बज रही है। किसी देश की राजनीति इस शाश्वत धुन का गला घोंट नहीं सकती। इस धुन को ही अगली शताब्दी में नई भाषा में नए सिरे से पहचानना है। इसे सुने बिना हमारा काम चल नहीं सकता। धुन तो वही रहेगी, बस समझने की भाषा में हेर-फेर हो सकता है। वह धुन शाश्वत धुन है। □

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उच्चाटन

'''पूरे देश में एक 'कृषकमेध यज्ञ' चालू है, जिसमें ऋत्विज् हैं वणिक, होता हैं राजनीतिज्ञ, ब्रह्मा हैं उस राजनीतिज्ञ के पक्षधर बुद्धिजीवी और यजमान हैं उपभोक्ता समाज एवं श्रमिक वर्ग। किसान की भूमिका बलिपशु की है। वह अकेले पड़ गया है। न दक्षिण खेमे में उसका कोई मुखपात्र या बंधु है, न वाम खेमे में। कसम दोनों ही किसान की ही खाते हैं। तीस एकड़ का काश्तकार आज उत्तर भारत में अच्छा खाता-पीता खेतिहर माना जाता है; परंतु अपनी खेती के बल पर वह अपने बच्चों को 'मेडिकल' या 'इंजीनियरिंग' नहीं पढ़ा सकता, जो कि चालू मुहावरे में वह 'स्थापित व्यवस्था' का अंग है और 'बुर्जुआ' है।'''

मैं इन दिनों गंगा तट पर वास कर रहा हूँ। नौकरी ही कुछ ऐसी मिल गई है। अतः यह पुण्य आहरण एक बाध्यता है। शास्त्र कहते हैं कि यह तो परम सौभाग्य है। पूर्ण स्नान की तो बात ही नहीं, गंगा की धारा में दृष्टि-स्नान पा लेना भी पुण्योदय है। होता होगा। परंतु नौकरी की मजबूरी नहीं रहती तो कौन इस पुण्य के फेर में पड़ने जाता। दृष्टि-स्नान अर्थात् दृष्टि अभिसार के लिए इस सुंदर जगत् में अनेक औघट घाट मौजूद हैं और मेरी नजर तो बेघाट पर भी फिसलकर स्नान कर लेने के लिए स्वभावतः तत्पर रहती है। इस नौकरी के भीतर चिंता के समुद्र में मगर-घड़ियाल की तरह निरंतर डूबे रहनेवाले जीवन को फुरसत कहाँ रहती है कि धारा से बाहर सिर निकाले और धूप, आकाश व हरी-भरी धरती पर नजर डाले। तो भी कभी-कभी नजर पड़ ही जाती है और जब नजर पड़ जाती है तो 'ज्ञाता स्वादो'''को विधांतु समर्थ?' कभी-कभी गंगा तट पर सुबह या शाम खड़ा होता हूँ तो जमानियाँ से टारीघाट तक का चक्राकार दियारा दृष्टि में प्रवेश कर जाता है। दिक्

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चक्रवाल के नीचे एक विस्तीर्ण हरित चाप खंड। उसके साथ दूर-दूर तक प्रशस्त विस्तीर्ण बालू का तट। तट के बाद ही गंगा की प्रशस्त धारा है, जिसमें सायं-प्रातः परमा प्रकृति का चंदन और अंगराग घुला रहता है। गंगा धारा की सीमा रेखा मानी जाती है भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशी यानी 'अनंत चतुर्दशी' के दिन की तट रेखा। इसके बाद इसका पवित्र शारदीया रूप प्रारंभ होता है और गंगा पतली होने लगती है। वैशाख-जेठ में तो कहीं-कहीं क्षीण धारा होकर फल्गु जैसी बन जाती है। गंगा की निजी प्रकृति के साथ उसका शरद और शिशिरकालीन रूप ही खपता है। कुछ मास पूर्व के उन्मत्त वन्या प्रवाह के चिह्नस्वरूप पूरा तट ही डोरियादार साड़ी की तरह रेखांकित रहता है, जिसपर किसी मानुष या ढोर के कहीं-कहीं पगचिह्न पड़ गए रहते हैं। तब भी वह पूरा-का-पूरा दृश्य एक कुँआरी कन्या की साड़ी की तरह निष्कलंक व पवित्र लगता है और उसकी साड़ी 'पटरा-पाढ़', कौशेयवर्णी साड़ी का किनारा रचती है ऊपर के दियारे की हरित-श्याम-शस्य पंक्ति। कुछ और ऊपर नजर उठाने पर सामने आता है गंगा की बाणभूमि का हरा-भरा दृश्य। इस प्रकार दों छवियाँ परस्पर जुड़ी हुई उपस्थित होती हैं। लगता है कि नदी एक कुँआरी कन्या है अथवा एक धीस नायिका है, और दियारे की धरती अपनी हरी-भरी गोद के साथ एक मंगलमय मातृत्व को धारण किए हुए है। कौमार्यश्री के साथ दांपत्यश्री। ये दोनों ही भगवती छवियाँ हैं और काल द्वारा पीटकर चपटा किए गए मेरे मन पर भी ये कभी-कभी छंद-श्लोक उत्कीर्ण करने लगती हैं। मुझे लगता है कि सौंदर्य के लिए वैदिक शब्द 'श्री' सर्वाधिक सार्थक है; क्योंकि 'श्री' में केवल सुंदरता ही नहीं बल्कि सुख-सौभाग्य और दूध-पूत की व्यंजक 'लक्ष्मी' का भी अंतर्भाव है। इन हरे-भरे खेतों को देखकर ही लगता है कि धरती सचमुच विश्वंभर देवता विष्णु की पत्नी है और इसका 'विश्वंभरा' नाम सार्थक है। तभी तो वैष्णव-आचार्य वेदांत देशिक ने इसकी पुलकित कंठ से प्रार्थना की थी—'सैष देवी सकल भुवन प्रार्थना कामधेनुः'। यह उक्ति सोने-चाँदी और रत्नों की स्वामिनी, कठोर हृदया लक्ष्मी पर नहीं घटित होती। वह तो वस्तुतः क्रूर-निर्मम लाल साँझों की अतृप्त ईहाओं-की यक्षिणी है। उसके फेर में पड़ने पर तो नींद हराम है। वह वस्तुतः 'सूर्मी' नायिका है। 'सूर्मी' अर्थात् लौह-नारी, जिसे प्राचीनकाल के दंड विधान के अनुसार आग में तप्त करके लाल कर दिया जाता था और अपराधी को उसे आलिंगन करना पड़ता था। तुष्टि, पुष्टि, सुख और स्वास्थ्य तो वह लक्ष्मी देती है, जिसका विकास नृतत्त्वशास्त्रियों के अनुसार, भू देवी से हुआ है। यह रुपए-पैसेवाली यक्षिणी तो निरंतर भय, हताशा, त्राहि और तृषा को ही प्रदान करती है। ऐसी अवस्था में 'सकल भुवन प्रार्थना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कामधेनुः' का विरुद इसे कैसे दिया जा सकता है।

यह धरती बड़ी सती है, बड़ी ही सच्ची। इमली बोओगे तो इमली देगी, आम बोओगे तो आम। वैसे अपनी भाषा में आम लगाया जाता है, बोया नहीं जाता। तो भी कबीरदास का भूत जब भाषा पर सवार होता है तो यह बो भी दिया जाता है। 'बोया पेड़ बबूल का, आम कहाँ से खाय।' यानी जैसा बोओ वैसा काटो। परंतु धरती की इस नैसर्गिक व्यवस्था में हस्तक्षेप करता है मनुष्य और मानुषी अर्थशास्त्र। अर्थशास्त्र और राजनीति का इतिहास ही धरती की पवित्रता के साथ विश्वासघात का इतिहास है। धरती की शस्य-श्यामला सुंदरता किसान के परिश्रम का मधु पीकर जनमती और बढ़ती है। सूरज, मेघ और हवा के साथ किसान के हाथ जुड़ जाते हैं तो सारी दुनिया के लिए दो कौर जुट पाता है। किसान पंच महाभूतों के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर सृष्टि के लिए प्राण और रस की उपासना करता है। सूरज के हाथ, पवन के हाथ, मेघ के हाथ के साथ-साथ किसान के हाथ जुड़ जाते हैं, तब कहीं जाकर यह खेती संपन्न होती है। हमारी धरती पर खेती की दाग-बेल निषाद (मुंडा-कोल) नस्ल के लोगों द्वारा डाली गई। नदी तट पर जंगली घासों में धान का दाना आदिम निषाद के द्वारा ही पहले-पहल आविष्कृत हुआ था। परंतु कृषि सभ्यता को अपनी जातीय संस्कृति का आधार बनाया आर्य ने। 'आर्य' शब्द के मूल में 'हिंदी-यूरोपीय आर्य' धातु 'अर' है, जिसका अर्थ होता है कर्षण। पुराने यूरोप में आर्य जाति के लिए 'वीरस' (Wiros)शब्द चलता था, जिसका अर्थ मृगया से जुड़ा है और संभवतः संस्कृत 'वीर' के मूल में भी यही शब्द है। निषादों की खेती नदी तट पर कुदालवाली खेती थी। यद्यपि आदिम हल के भी वही आविष्कारक हैं; परंतु 'कृषि' को अपनी सभ्यता का प्रगति-रथ आर्य ने उसी तरह बनाया जैसे आज के युग में भारी उद्योग पश्चिमी सभ्यता का प्रगति-रथ बना हुआ है। भारी उद्योगों का प्रवेश के माने हीं हो जाता है पश्चिमी सभ्यता की विजय। आर्यत्व के विस्तार के पीछे भी दो तत्त्व थे—एक तो कृषि सभ्यता, दूसरी व्यापक सार्वभौम भाषा। यही कारण है कि आर्य सभ्यता में 'किसान' शब्द को बड़ा ही पवित्र और महत्त्वपूर्ण माना गया। रामायण काल में प्रत्येक ऋषि और प्रत्येक राजा की अपनी निजी खेती होती थी। राजा की निजी सीरदारी को 'सीता-भूमि' कहते थे। रामायण काल में राजा की अपनी कृषि-भूमि की संज्ञा ही थी 'सीता'। राजा के आर्थिक जीवन में इस सीता-भूमि की श्री का महत्त्वपूर्ण स्थान था। दूसरे शब्दों में, इसका अर्थ हुआ 'राज-कृषि' या 'राज-भूमि'। व्यक्तियों के नाम भाषा में चालू संज्ञाओं पर ही रखे जाते हैं। उस युग की एक प्रसिद्ध रानी का नाम 'सीता' इस संज्ञा के महत्त्व को व्यक्त करता है,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जो विश्वप्रसिद्ध रघुपति रामचंद्र की पत्नी थीं। राजा का व्यक्तिगत जीवन धर्मपत्नी, श्रद्धा और सीता-भूमि—इन्हीं तीनों का आधार लेकर चलता था। महाभारत काल में भी यह विधान था कि जो कृषक नहीं, वह सभा का सभासद् नहीं हो सकता। वस्तुतः समाज में दैनिक चालू पाकयज्ञ का उत्सवी यजमान तो किसान ही है। शेष सारा संसार तो उसका 'पवनी' है। परंतु मनुष्य की व्यवस्था के भीतर एक कपटाचार घुस आया और यह किसान 'दाता' होकर भी 'दास' बन गया। वह न केवल राजा और राजपुरुष गण का शिकार बना, न केवल सामंत-जमींदार ने ही उसका शोषण किया; बल्कि साधु-संत, बनिया-महाजन से लेकर 'श्रमिक' तक सब उसीको नोच रहे हैं और सबके शोषण का लक्ष्य एकमात्र किसान ही है। नौकरी-पेशावालों के पास संगठित शक्ति है, श्रमिक के हाथ में स्थायी 'वोट' बैंक है। अतः उन्हें अपने पक्ष में करने के लिए क्या सत्ताधारी, क्या विरोधी—दोनों खेमों में होड़ लगी है; उन्हें शह देने की प्रतियोगिता मची हुई है कि कौन दल श्रमिक को फसल बोनेवाले, फसल उगानेवाले किसान का शोषण करने के लिए अधिक-से-अधिक अवसर देने को कटिबद्ध है। अवश्य ही, सत्ताधारी और विरोधी दोनों व्यूह 'किसान' के नाम की शपथ ऊँचे स्वर में लेते हैं; परंतु ये सब भाषा के माध्यम से खेली जा रही कपटलीला मात्र है। अंग्रेजी जमाने में 'किसान' की शपथ खाते हुए उसका राजनीतिक मंच जमींदार दखल किए रहा, तो आज वामपंथी राजनीति के युग में उसका मंच मजदूर के हाथों में है। भारतीय वामपंथी राजनीतिज्ञों के मन में चोर बैठा है। वे ऊपर से किसान-मजदूर की बातें करते हुए भी भीतर-भीतर किसान को स्थापित स्वार्थ का धारक मानते हैं और मजदूर को प्रगतिशील चेतना का।

दुर्भाग्यवश संगठित कर्मचारी और संगठित श्रमिक भी किसान के शोषक की भूमिका में उतर चुके हैं। यह बात सुनने में अटपटी लगती है। ऐसी बात कहना समय की हवा के खिलाफ बोलना है। एक ऐसा दबाव का वातावरण तैयार कर दिया गया है कि जिसे हम प्रतिदिन अनुभवलब्ध सत्य के रूप में भोग रहे हैं, उसे सत्य कहने का साहस हमारे पास नहीं। चालू मुहावरे के खिलाफ बोलने का अर्थ होगा 'कुजात' बुद्धिजीवी घोषित होना। प्रेस और अन्य प्रचार-साधनों द्वारा कुछ शब्द, कुछ मुहावरे तथा कुछ मानदंड इस प्रकार आरोपित कर दिए गए हैं कि उनके दाएँ-बाएँ जाकर कुछ कहना, बोलना, लिखना एक अक्षम्य बौद्धिक अपराध माना जाएगा। आज कोई भी व्यक्ति सरकारी दमन और सरकारी हिंसा के खिलाफ बेखटके बोल सकता है। वस्तुतः ऐसा करना तो आज बौद्धिक प्रतिष्ठा का 'शॉर्टकट' बन गया है और इसके लिए कुछ शब्द और मुहावरे जैसे तय कर दिए गए हैं। सभी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को शुक-सारिका की तरह टें-टें करते जाना है। परंतु सामूहिक दबाव और सामूहिक हिंसा के प्रति हम ओष्ठ नहीं खोल सकते। हमारी तर्जनी ओष्ठलग्न रह जाती है। राज्य की दमनशक्ति तो प्रत्यक्ष है और इस प्रत्यक्ष से लड़ाई ठानना आसान है; परंतु समाज को यानी प्रेस और 'मास मीडिया' द्वारा प्रचारित बहुमत की दमनशक्ति और दबाव का कोई प्रतिकार नहीं। यह अप्रत्यक्ष है। इसके घोषित मुहावरे के प्रतिकूल जाने पर 'कुजात' या 'नक्कू' बन जाने का महाभय है। एक सत्ता-लोलुप, वाचाल और प्रगल्भ वर्ग बड़े ही सूक्ष्म एवं अप्रत्यक्ष तरीके से हमारी 'वाणी' को नियंत्रित कर रहा है। अतः आज यदि कोई बुद्धिजीवी यह कहने का साहस करे कि श्रमिक भी किसान का शोषक है तो वह संगठित समूह या बहुमत द्वारा तय किए गए मुहावरे के खिलाफ जा रहा है और उसे सामूहिक दमनशक्ति का शिकार होना पड़ेगा। प्रत्येक युग में कुछ 'गौ-ब्राह्मण' बना लिये जाते हैं और उनके खिलाफ कुछ कहना 'पाप' हो जाता है। आज के युग का 'गौ-ब्राह्मण' यह श्रमिक है। परंतु वस्तु स्थिति तो यह है कि अपनी कामचोरी, अड़ंगाबाजी और निष्ठाहीनता द्वारा आज श्रमिक वर्ग किसान का शोषण इस तरह से कर रहा है कि इसे न्याय नहीं कहा जा सकता। अवश्य ही हरित क्रांति के सूत्रधार और बड़े किसानों के संदर्भ में यह बात लागू नहीं होती। परंतु छोटे किसानों की तो दशा इन श्रमिकों के कारण दयनीय हो जाती है। केवल खेत की कटाई और दँवाई के समय ही देखें, तो श्रमिक फसल का एक-तिहाई से ज्यादा लूट ले जाता है, एक-तिहाई से ज्यादा तो उसका व्यय ही हो जाता है। शेष बीस प्रतिशत के आसपास उसकी अपनी उपलब्धि है और वह सरकार तथा बिचौलियों की कृपा से माटी के मोल बिकती है। चैत मास में वह अपनी उपजाई फसल प्याज को बेचना चाहता है (और बेचना तो पड़ेगा ही; क्योंकि इज्जत-आबरू, शादी-ब्याह आदि के खर्च जो हैं) तो यह बिकेगी बीस रुपए प्रति मन, पर वही चार मास बाद कम-से-कम एक सौ बीस के भाव बिचौलिया व्यापारी बेचेगा। बाजार में जब मूल्य सूचकांक उठेगा तो शिक्षित श्रेणी के श्रमिक अर्थात् कर्मचारी का वेतनमान व भत्ता बढ़ा दिया जाएगा और इस बढ़ोतरी का प्रभाव अन्य वस्तुओं के मूल्य पर पड़ेगा, जो जीवन के लिए आवश्यक हैं। किसान को छोड़कर बाकी सभी वर्ग अपनी क्षतिपूर्ति अपना-अपना भाव बढ़ाकर कर लेंगे; परंतु किसान के जिम्मे रहेगा केवल महँगाई का बोझा बरदाश्त करते जाना। पूरे देश में एक 'कृषकमेध यज्ञ' चालू है, जिसमें ऋत्विज् हैं वणिक, होता हैं राजनीतिज्ञ, ब्रह्मा हैं उस राजनीतिज्ञ के पक्षधर बुद्धिजीवी और यजमान हैं उपभोक्ता समाज और श्रमिक वर्ग। किसान की भूमिका बलिपशु की है। वह अकेले पड़ गया है। न दक्षिण खेमे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में उसका कोई मुखपात्र या बंधु है, न वाम खेमे में। कसम दोनों ही किसान की खाते हैं। तीस एकड़ का काश्तकार आज उत्तर भारत में अच्छा खाता-पीता खेतिहर माना जाता है। परंतु अपनी खेती के बल पर वह अपने बच्चों को 'मेडिकल' या 'इंजीनियरिंग' नहीं पढ़ा सकता, जो कि चालू मुहावरे में वह 'स्थापित व्यवस्था' का अंग है और 'बुर्जुआ' है। दूसरी ओर शहर का एक चपरासी चाहे तो ऐसा कर सकता है; यद्यपि उसे वामपंथी भाषा में 'सर्वहारा' की सुरक्षित उपाधि मिली है। ऐसा क्यों?

ऐसा क्यों? इसपर कितना ही सोचता हूँ, मन खट्टा हो जाता है। सामने नदी की पापहरा धारा काली लगने लगती है। उस पार के दियारे की मंगलमयी छवि अश्रुपात करती ज्ञात होती है। ऋतुचक्र की हवाएँ विषबीज बिखेरती ज्ञात होती हैं। कहीं कोई विराम नहीं, कहीं कोई सांत्वना नहीं। मन में एक शत्रु प्रवेश कर गया है और वह भावानुप्रवेश के द्वार पर ही जमकर बैठ गया है तथा निरंतर उच्चाटन मंत्र का जाप कर रहा है। लगता है कि उसके इस घोर 'जाप' को विफल करने में मैं असमर्थ हूँ। अतः अब मुझे क्षमा कर दो।

□

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऋषि-चित्त की मधुमती भूमियाँ

"'मैं यह नहीं कहता कि भारतीय चिंतन में वस्तुवादी दृष्टि के लिए जगह ही नहीं है। जहाँ धर्म और मोक्ष को अर्थ तथा काम से जोड़कर रखा गया, जहाँ वात्स्यायन का 'कामसूत्र' और कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' लिखा गया, जहाँ बीजगणित, अंकशास्त्र, शून्य और अनंत (पूर्णका) गणित आविष्कृत हुआ, जहाँ ओषधियों और धातुओं के द्रव्य गुण पर पर्याप्त चिंतन हुआ, जहाँ सामाजिक सुव्यवस्था और आचरण के दृढ़ विधानों की रचना स्मृतियों और गुह्य सूत्रों के रूप में हुई, वहाँ पर वस्तुवादी, विश्लेषण आश्रित पद्धति अनुपस्थित थी'''आधुनिक चिंतन-पद्धति भौतिकता और अध्यात्म, वस्तु और भाव, देह और आत्मा को विच्छिन्न कोटियों के रूप में लेने की अभ्यासी है; अतः वह या तो इस स्थिति को समझ नहीं पाती अथवा जानकर भी कुतर्क करती है।'''

य: अपां पुष्पं वेद स पुष्पवान,
धन मान पशुमान भवति।

जो 'अपां' के पुष्प को जानता है वह पुष्पवान्, धनवान्, पशुवान् होता है; अथवा चंद्रमा अपां-पुष्प है, जो इसे जानता है वह पुष्पवान्, धनवान्, पशुवान् होता है। जो अपां के आयतन को जानता है, वह आयतनवान् होता है। अश्मन् (आसमान या पर्वत) अपां का आयतन है अथवा अपां ही अश्मन् का आयतन है, जो इसे जानता है वह आयतनवान् होता है। वायु अपां का आयतन है अथवा अपां ही वायु का आयतन है, जो इसे जानता है वह आयतनवान् होता है। चंद्रमा अपां का आयतन है अथवा अपां ही चंद्रमा का आयतन है, जो इसे जानता है वह आयतनवान् होता है। नक्षत्रगण अपां के आयतन हैं अथवा अपां ही नक्षत्रों का आयतन है, जो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसे जानता है वह आयतनवान् होता है। पर्जन्य अपां के आयतन हैं अथवा अपां ही पर्जन्य का आयतन है, जो इसे जानता है वह आयतनवान् होता है। संवत्सर अपां के आयतन हैं अथवा अपां ही संवत्सर का आयतन है, जो इसे जानता है वह आयतनवान् होता है।"

इस प्रकार वैदिक मंत्र-पुष्पांजलि चलती है। सारे प्रजापतियों का प्रजापति है जल। स्वर्ग-अंतरिक्ष-धरती (भूर्भुवः स्वः) व्यापी जल तत्त्व। इसके अनंत विस्तार की पौराणिक मूर्ति है जलशायी विष्णु। यही वैदिक भाषा में 'अपां' है। इस अपां अर्थात् कारण-समुद्र से जो प्रथम कार्यरूप नाभिपद्म प्रस्फुटित हुआ, वही है अपां पुष्प अर्थात् परमेष्ठी। यह परमेष्ठी ही नाभिपद्म है। प्रकारांतर से यही सृष्टि पद्म भी है। अश्मन् (पर्वत या आकाश), चंद्रमा, वायु, पर्जन्य, नक्षत्र, संवत्सर और ऋतुचक्र आदि इस सृष्टिपद्म की पाँखुरियाँ हैं। सृष्टि-विकास की प्रत्येक क्रिया इसका ही दल-प्रतिदल प्रस्फुटन है। ये अश्मन् आदि सारी सत्ताएँ उस अपां रूप प्रजापति की क्रिया-भूमियाँ हैं, अतः ये उस अपां के 'आयतन' अर्थात् 'यज्ञवेदी' हैं। ये अपां शक्ति से ओतप्रोत हैं। इनका सारा कर्म अपां शक्ति का 'कर्म' (यज्ञ) है। 'निरुक्त' के अनुसार, 'आयतन' शब्द के तीन अर्थ हैं—विस्तार, निधान या आवास और यज्ञवेदी। ये अश्मन्, वायु, चंद्रमा, पर्जन्य आदि सारी सत्ताएँ अपां पुरुष की कर्मवेदियाँ (यज्ञवेदियाँ) हैं। साथ ही इन सबका अस्तित्व 'अपां' अर्थात् हिरण्यगर्भी नारायण रूप आदि जल की विश्वव्यापी महासत्ता के भीतर हैं, उससे बाहर कहीं कुछ भी अस्तित्ववान् नहीं है, अतः 'अपां' भी इनका 'आयतन' (धाम या निधान) हुआ। 'अपां' पूर्ण है और ये हैं अंश। अंश का आयतन (धाम या निधान) पूर्ण ही होता है। ये सत्ताएँ बाहर अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के साथ अभिव्यक्त होती हैं; पर हैं ये उस पूर्ण के भीतर ही अस्तित्ववान्। इसीकी महासत्ता के भीतर वे आकार लेती हैं और क्रिया करती हैं एवं उनकी हर एक क्रिया 'अपां' द्वारा किया जाता हुआ यज्ञकर्म है। अतः ये सारी सत्ताएँ यज्ञवेदियाँ हैं। आकाश, धरती, पर्वत, चंद्रमा, पर्जन्य, संवत्सर-चक्र सभी कर्मरत हैं—निष्काम और अनासक्त भाव से। इनके सारे कर्म उक्त महासत्ता का यज्ञकर्म हैं। यह सृष्टि-प्रवाह एक अविराम यज्ञ है। सारे कर्मों की आहुति 'इदं देवाय न इदं मम' भाव से पड़ रही है और वह देव भी महायाज्ञिक अपां ही है, जो अनासक्त भाव से कर्मरत है।

वैदिक ऋषि सृष्टि-प्रवाह को एक यज्ञ के रूप में देखता था, ठीक वैसे ही जैसे कालांतर के भक्तिमार्गी संतों ने इसे परात्पर प्रभु की निष्काम लीला के रूप में देखा है। वस्तुतः यह एक आत्ममेध यज्ञ है (पुरुषसूक्त), जिसमें 'पूर्ण' अपने अंशों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की निरंतर आहुति दे रहा है तो भी 'पूर्ण' ही रह जाता है। यह गणित का अद्‌भुत प्रतिभज्ञान है जो कालांतर में गणित के 'शून्य' और 'अनंत' की अवधारणाओं का स्रोत बना। उपर्युक्त सूक्त के भीतर केंद्रीय शब्द है 'आयतन'। इसके तीनों अर्थों (विस्तार, धाम और यज्ञवेदी) को जान लेने पर इस सूक्त का मर्म स्पष्ट होता है।

यह सूक्त 'संहिता' में नहीं है, पर उससे जुड़ी श्रौतसूत्र परंपरा से उद्‌भूत है और ऋषि-चिंतन की शैली का सफल उदाहरण है। इसमें केंद्रीय शब्द हैं—'अपां', 'पुष्प' व 'आयतन' और इन तीनों की वैदिक चिंतन-परंपरा और प्रतीक शास्त्र अर्थ जान लेने पर ही इनका मर्म उपलब्ध होता है। 'यज्ञ' क्या है? वह कर्म, जो किसी बृहत्तर सत्ता या सत्य के प्रति निष्काम 'आहुति' से संपन्न होता है। आहुति पाने पर अग्नि धूम-गंध के साथ ज्वाला के रूप में अभिव्यक्त होती है। उसी तरह से बिना त्याग के कोई महत् कर्म सिद्ध नहीं होता। यह आहुति त्याग है। सारे महत् कर्मों के मूल में त्याग और वैराग्य होता है। वायु अपने लिए नहीं बहता। चंद्रमा अपने लिए ओषधियों में सोम नहीं ढालता। सूर्य अपने लिए फसल के दानों में मधु नहीं उतारता। पर्वत अपने लिए हृदय को फाड़कर जलधारा नहीं निकालता। नक्षत्रगण एवं संवत्सर अपने लिए धावमान नहीं हैं। ये सब निष्काम कर्मयोग में लीन हैं। ये सब अपां रूप अनंत जल द्वारा किया जाता हुआ नित्य यज्ञ है; अन्यथा सृजन संभव नहीं है। कर्मयज्ञ के सारे बीज अपां पुरुष हिरण्यगर्भी नारायण के शरीर के भीतर हैं। आकाश, चंद्रमा, पर्जन्य, संवत्सर—सब उसके वपु के अंतर्गत सत्तावान् हैं। वे बीज हैं। हर एक बीज यज्ञवेदी है। उसका क्रियाकलाप यज्ञकर्म है। अपां इन बीजों से लगातार यज्ञ कर रहा है। जो इस तत्त्व को जानता है, वह व्यक्ति आयतनवान् हो जाता है, वह विस्तारवान् हो जाता है, वह 'स्व' की कोटर में बद्ध नहीं रहता, उसका जीवन आत्मा की यज्ञवेदी बन जाता है।

मैं यह नहीं कहता कि भारतीय चिंतन में (यहाँ तक कि वैदिक वाङ्मय के संदर्भ में भी) वस्तुवादी दृष्टि के लिए जगह ही नहीं है। जहाँ धर्म और मोक्ष को अर्थ तथा काम से जोड़कर रखा गया, जहाँ वात्स्यायन का 'कामसूत्र' और कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' लिखा गया, जहाँ बीजगणित, अंकशास्त्र, शून्य और अनंत (पूर्णका) गणित आविष्कृत हुआ, जहाँ ओषधियों और धातुओं के द्रव्य गुण पर पर्याप्त चिंतन हुआ, जहाँ सामाजिक सुव्यवस्था और आचरण के दृढ़ विधानों की रचना स्मृतियाँ और गुह्य सूत्रों के रूप में हुई, वहाँ पर वस्तुवादी, विश्लेषण आश्रित पद्धति अनुपस्थित थी और सबकुछ संश्लिष्ट प्रातिभ द्विति पर हुआ, ऐसा कहना नितांत अनर्गल है। परंतु उतना ही अनर्गल है 'सब धान बाइस पसेरी' मानकर सर्वत्र वस्तुवादी कसौटी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लागू करना और प्रातिभज्ञान तथा रहस्यबोध को व्यर्थ कल्पित, बेबुनियाद और असत्य मानकर खारिज कर देना।

ज्ञान के स्पष्टतः दो रूप होते हैं—बुद्धि-आश्रित ज्ञान, जिसमें मस्तिष्क चिंतन और तदनुसार प्रत्ययीकरण (Ideation) करता है और दूसरा है प्रातिभज्ञान, जो सीधे-सीधे एक संश्लिष्ट और समग्रबोध के रूप में प्रत्यक्षतः लब्ध होता है। प्रातिभ क्रिया में तर्क-बुद्धि की भूमिका नहीं के बराबर होती है। ग़लतफ़हमी इसलिए हो रही है कि चैतन्य को हम मस्तिष्क का ही भावात्मक रूपांतर मानते हैं। वस्तुतः मस्तिष्क तो चैतन्य प्रवाह की 'नदी-शय्या' मात्र है। नदी और उसकी शय्याभूमि के बीच जो भेद है, वही चैतन्य प्रवाह और मस्तिष्क के बीच है। योगियों ने (उदाहरणार्थ, आज के योगी रमण महर्षि ने) बताया है कि चैतन्य प्रवाह का स्रोत आत्मा है। आत्मा से चैतन्य की रोशनी का प्रवाह चलता है। नॉर्मल स्थितियों में यह बुद्धि से होते हुए (जहाँ मस्तिष्क क्रियाशील है) मन तक पहुँचता है। पर मन की असामान्य उदात्त स्थिति में इसकी किरण सीधे मन तक आ सकती है और यही है प्रातिभज्ञान। यह बुद्धि-निर्भर नहीं है। भारतीय वाङ्मय, साहित्य, कला के कई अंशों में इसकी भूमिका रही है। आध्यात्मिक क्षेत्र में यही प्रातिभज्ञान सक्रिय रहा है। येन-केन-प्रकारेण हमारी मूल धारा की आध्यात्मिक प्रकृति का अवमूल्यन कर, उसे भौतिकवादी सिद्ध करने के कूट प्रयास के तहत आधुनिक विद्वान् वस्तुवादी और विश्लेषणवादी पद्धति पर जोर देते हैं। ये हमें दृष्टिभ्रांत और आत्मसंदिग्ध करके 'संशयात्मा विनश्यति' की स्थिति में लाना चाहते हैं। हम मानते हैं कि वैदिक वाङ्मय में अनेक स्थल ऐसे हैं, जिनकी व्याख्या वस्तुवादी दृष्टि से हो सकती है। उसमें सामाजिक जीवन का चित्र 'अक्षसूत्र' में है, लोक-धर्म की कोई भूली-बिसरी कड़ी का संकेत 'वृषाकपि सूत्र' में है, वहाँ पर वस्तुवादी व्याख्या युक्तिसंगत है। परंतु पुरुषसूक्त 'वाङ्भृणी-सूत्र' (वाक् सूत्र), नारदीयसूक्त या अन्य अनेक स्थलों पर प्रातिभ बोध की पद्धति को स्वीकार करना पड़ता है। प्रातिभ बोध तो शुद्ध साइंस में भी क्रियाशील है। वहाँ भी जब मन और बुद्धि संयुक्त रूप से किसी विषय में निमग्न हो जाते हैं, तो सैकड़ों प्रयोगों के मध्य किसी एक प्रयोग के भीतर जो वांछित संकेत अचानक लब्ध होता है, वह यदृच्छया होता है और किसी सुचिंतित 'लॉजिक' के अनुसार नहीं लब्ध होता। हम यहाँ प्रातिभ बोध के इस मंत्र काव्य के दो-एक और उदाहरण दे रहे हैं—

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।'

(हे पूषन, सत्य का मुख हिरण्यमय पात्र से ढका है। तू उसे (मुझ) सत्यधर्मा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पुरुष के लिए अनावृत कर। मैं सत्य की नग्न, अनावृत दृष्टि को देखने के लिए विकल हूँ।)

जाज्वल्यमान सूर्य बिंब के सम्मुख ऋषि बैठा है। सारे दृश्य को अति प्रगाढ़-सघन रूप से अनुभूत कर रहा है। उसे पहले चरण में लगता है कि यह चमकीला बिंब असल सूर्य नहीं। हिरण्यमय बिंब तो उसपर पड़ा हुआ अवगुंठन या आवरण है। यह तथ्य उसके मन में वस्तुगत पथ से नहीं आया होगा। वस्तुगत दृष्टि से तो जो दृश्यमान है, वही सबकुछ है। यह भाव अचानक प्रातिभ बोध के रूप में उद्भूत हुआ होगा। ऋषि अपने मन को उक्त दृश्य से एकाकार कर चुका है। यह ध्यान की तन्मय (तत्मय) अवस्था है। तन्मयता के गहरे स्तरों पर उतरते हुए उसने इससे जुड़ा एक और बोध प्राप्त किया होगा कि वह स्वयं सूर्य है, पर वह स्वयं 'सूर्य' के रूप में अपने को पहचानता नहीं; क्योंकि उसकी देह एक 'पात्र' (घट) जैसी है, जिसपर उसके 'मैं' का, सांसारिक नाम रूप का ढक्कन लगा है। अब बोध के इन दोनों स्तरों को एक संश्लिष्ट रूप में वह अनुभूत कर रहा है। यह सामान्य अनुभव से बदलकर 'महा अनुभव' हो जाता है, जो उसे कुछ क्षण तक विमोहित किए रहता है। फिर वह इन ऊर्ध्व चेतना की सीढ़ियों से नीचे उतरकर जाग्रत-चैतन्य के स्तर पर इसे भाषिक रूप देता है और इस स्तर पर प्रातिभ बोध का जितना अंश बुद्धि पकड़ पाती है, उसे भाषा का रूप देती है। 'बोध-क्रम' में प्रातिभज्ञान के संकेत या उद्बुद्ध संवेदन ही उसके साथी थे। पर अभिव्यक्ति क्रम में 'बुद्धि' (Intellect) उसका निर्देशन करती है। वस्तुतः कोई भी अभिव्यक्ति भावगत और वस्तुगत—दोनों प्रकार की विभिन्न प्रक्रिया से उत्पन्न होती है। दिव्य काव्य में उत्स रहता है प्रातिभ (Intuition) ज्ञान अथवा लौकिक काव्य में भाव-संवेदना (Emotion)। अभिव्यक्ति में भाषा और पिंगल की जरूरत होती है, जो बौद्धिक तत्त्व है। बुद्धि भाषा और पिंगल को बोध के अनुरूप व्यवस्थित करती है। समस्त प्रक्रिया मात्र 'बुद्धि की यात्रा' नहीं है, 'जो अंतिम से पूर्ववाले बिंदु पर आत्मसम्मोहन में बदल जाती है।' (ऐसा ही एक आधुनिक विद्वान् फरमाते हैं।) आवरण के लिए अवगुंठन नहीं, 'पात्र' शब्द का चुनाव बोध की एक संश्लिष्ट प्रकृति का संकेत करता है, जो बोधकर्ता और सूर्य बिंब के दृश्य के मध्य एकाकार भाव के अनुभव को प्रमाणित करता है।

यहाँ बोध की पद्धति है अधोशाखा के वस्तु जगत् से ऊपर उठकर 'ऊर्ध्व मूल' के परावस्तु रूप तक पहुँचना। अभिव्यक्ति की पद्धति है उस परावस्तु के स्तर से नीचे उतरकर भाषा और पिंगल तक पहुँचना, जो 'अधोशाखा' के वस्तु जगत् के उपादान हैं। भारतीय योग साधना और तांत्रिक उपासना-पद्धति में पहली को समाहार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्रम (संहरण-क्रम) कहते हैं और दूसरी को 'सृष्टि-क्रम'। योगी या साधक देह के पंच भौतिक स्तर (वस्तु जगत्) से प्रारंभ करता है और दैहिक सत्ता का संहरण प्राण सत्ता में, प्राण का संहरण मनोमय सत्ता (ध्यान सत्ता) में, मनोमय का प्रज्ञान या प्रातिभ सत्ता (समाधि सत्ता) में और समाधि सत्ता का ऊर्ध्व मूल ब्रह्म में लीन कर देता है। यही है संहरण-क्रम या संहार-क्रम। महाकाल प्रलय समय इसी प्रकार सोपान-प्रति सोपान स्थूल को सूक्ष्म में, सूक्ष्म को सूक्ष्मतर में, सूक्ष्मतर को सूक्ष्मतम में विलीन करते हुए सृष्टि को शून्य रूप दे देता है। उसीके समानांतर योगी में यही लय प्रक्रिया चलती है; पर सृजन या सृष्टि का क्रम उलटा है। वह ऊर्ध्वमूल ब्रह्म से ऋत और सत्य के रूप में विभाजित होती है और क्रमिक रूप से चौबीस तत्त्वों का स्पंदन होता है। इसके समानांतर बोध को संहार-क्रम या लय-क्रम कहते हैं और अभिव्यक्ति को सृष्टि-क्रम। भारतीय भाषा में पूरी पद्धति को समझने की यही शब्दावली है। इसे आधुनिक वस्तुगत बनाम भावगत (या आत्मगत) की शैली में बहुत दूर तक नहीं खींचा जा सकता।

'मधुवाता ऋतायते। मधुक्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सत्वोषधि।
मधु नक्तुमुतोष सो। मधुमत पार्थिव रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता।
मधुमान नो वनस्पति। मधुमास्तु सूर्यः। माध्वीर्गावों भवतु।'

(ऋत को जीवन में धारण करनेवाले के लिए वायु मधुमय है। नदियाँ मधु का क्षरण करती हैं। रात्रि और उषा मधुमय हों। माता पृथ्वी की धूल मधुमय हो। पिता 'द्यु' (आकाश) मधुमय हो। वनस्पतियाँ मधुमय हों। सूर्य मधुमय हो। गायें मधुमयी हों।)

वस्तुवादी दृष्टि से देखें तो इस मंत्र के 'निपात' (आधार वस्तु) हैं—वायु, नदियाँ, ओषधियाँ, अन्न, उषा, रात्रि, धूल, आकाश, सूर्य, वनस्पति और गायें। ये वस्तुगत रूप में परस्पर इतने पृथक् हैं कि इन्हें या इनके वस्तुगत धर्म या गुण को एक शब्द में सरलीकृत करना संभव नहीं। परंतु ऋषि मन की प्रातिभ भूमि या महाकल्पना में ये सब एक ही सत्ता के विविध पक्ष लगते हैं और इनका सर्वनिष्ठ व्यापक गुण या धर्म वह 'मधु' शब्द के रूप में लब्ध करता है। यदि ये विविध तत्त्व उसे 'मधुमय' लगें तो निश्चय ही यह बोध 'प्रेमिका के हृदय-मधु' जैसा ही कोई भाव-बोध है, वस्तु-बोध नहीं। सच्चाई तो यह है कि मनुष्य के मन द्वारा लब्ध वस्तुगत बोध भी पूरा-पूरा मात्र वस्तुगत नहीं होता, उसकी मनःस्थिति और संस्कार उसे संशोधित एवं पुनःपरिभाषित करके लब्ध करते हैं। दार्शनिक ब्रेडले ने अपनी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पुस्तक 'Illusion and Reality' में यही स्थापित किया है कि 'Reality' का शत-प्रतिशत 'वस्तुगत' बोध असंभव है। बोधकर्ता का मन हर स्थिति में उसे 'भावगत' विशिष्टता दे देता है। प्रत्यक्ष वस्तुगत बोध में भी भावगतता का एक पुट रहता है और ऋषि का यह विश्वव्यापी मधु का बोध तो अपने मूल रूप में ही अप्रत्यक्ष बोध है। वस्तुतः इस 'मधु' बोध के मूल में है ऋषि के मन में प्रतिष्ठित आर्ष चिंतन के संस्कार, जो उसके सहज स्वभाव के अंग बन चुके हैं। आम मीठा है, यह बोध कोई बौद्धिक प्रक्रिया नहीं है। संस्कार लब्ध सहज तात्कालिक बोध है, जिसका मूल है वैदिक विश्वास परंपरा में। ब्रह्म की तीसरी कला या चरम कला है आनंद। इसकी चर्चा तैत्तिरीयोपनिषद् में है। इस आनंद की ही संज्ञा 'रस' है—'रसो वै सः'। सृष्टि की हर एक सत्ता के मूल में 'रस' है और उसका आस्वादन है 'आनंद'। छांदोग्योपनिषद् के प्रारंभ में कहा गया है कि पंच महाभूत द्वारा निर्मित इस विश्व का रस है पृथ्वी, पृथ्वी का रस है जल, जल का रस है सोम, सोम का रस है ओषधि, ओषधि का रस है पुरुष, पुरुष का रस है वाणी, वाणी का रस है छंद (ऋक्), ऋक् का सार है साम (संगीत) और साम का रस है ओंकार, जो चरम सत्ता का उद्गीय रूप है। अर्थात् वे 'रस' या 'आनंद' को एक वैश्विक तत्त्व मानते थे। इसीका द्योतक 'मधु' शब्द है। अतः एक विश्वव्यापी रस-बोध के लिए मधु संज्ञा प्रयुक्त की गई है; परंतु प्रत्येक सत्ता में इसकी वस्तुगत आकृति, गुण-धर्म में कोई समानता नहीं, केवल भावगत साम्य है।

भाषा की सीमाएँ हैं। 'भोग' शब्द को लें। अन्न के संदर्भ में इसका अर्थ है 'भक्षण'। पर नारी-भोग के संदर्भ में यही अर्थ नहीं चल सकता। 'पितर चंद्रमा के अमृत का भोग करते हैं'। यहाँ 'भोग' का तात्पर्य अमृत (देवोपम) मानसिकता का आनंद है। मधु शब्द का अर्थ 'सार' या सत्त्व भी होता है। 'मधु' अर्थात् निचोड़ या सत्त्व। उक्त मंत्र में प्रथम अर्थ ही है, जिसके अनुसार सृष्टि की विविध सत्ताओं में मधु है, अर्थात् माधुर्य है। यह शब्द की वस्तुवाचक नहीं, भाववाचक स्थिति है। इसका बोध भावगत या आत्मगत पद्धति से ही संभव है। मधु-विद्या की परंपरा औपनिषदिक 'रसो वै सः' के सिद्धांत में चरम रूप पाती है। परंतु इसका अनुधावन भारतीय साहित्य, कला, रस-सिद्धांत (विविध धर्मों, स्थायी भावों के मूल में 'एक' रस की स्थिति) और भक्ति उपासना तक हुआ है। विश्व की मूल प्रकृति मधुमय है; क्योंकि ब्रह्म की चरम कला 'आनंद' का 'ऋत' (प्रवाहशील) रूप ही यह विश्व-प्रकृति व्यक्त करती है। भक्तों और संतों की 'अमी' (गगन गरजे बरसे अमी भीजे दास कबीर) भी यही है। इस 'मधु' के विश्वव्यापी प्रातिभ बोध की अभिव्यक्ति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह प्रसिद्ध 'मधुमति सूक्त' (मधुवाता ऋतायते इत्यादि) देता है और यह इह जीवन, परजीवन एवं पुनर्जन्म के अविच्छिन्न प्रवाह के मध्य 'भाव' रूप में प्रतिष्ठित मधु तत्त्व का संकेत देता है। इसका उपयोग मंगलानुष्ठान से लेकर श्राद्ध-तर्पण तक सर्वत्र होता है।

इस 'मधु' का स्रोत है आदित्य। छांदोग्योपनिषद् के अनुसार, 'सूर्य ही देवताओं का मधु है। द्यु लोक वह 'तिरछा बाँस' है, अंतरिक्ष 'छत्ता' है। पूर्व दिशा, दक्षिण दिशा, पश्चिम दिशा, उत्तर दिशा की किरणें 'मधु-नाड़ियाँ' हैं। ऋक्, यजुः, साम, अथर्व आदि वेद 'मधुकर' हैं। इनके मंत्र, इतिहास, पुराण, काव्य आदि 'पुष्प' हैं। उस अग्नितप्त मंत्र-इतिहास-पुराण आदि से जो वैदिक और साहित्यिक कर्म द्वारा अभिताप आँच पाते हैं; यश, तेज, रस, वीर्य, अन्न आदि पैदा होते हैं। ये सारे रस रूप आदित्य में ही आश्रय लेते हैं। इसी (अध्यात्म ३, खंड-५) में सूर्यमंडल की ऊर्ध्व नाड़ी का वर्णन है; जिसका संबंध गुह्य विद्याओं से है और जिनका कालांतर में तंत्र के रूप में विकास हुआ है। इन विद्याओं के गुह्य आदेश ही मधुकर हैं, ब्रह्म ही इनका पुष्प है, अमृत ही इनका मधु है, ओंकार रूप ब्रह्म इनसे अभितप्त होता है। यह आदित्य के हृदय में क्षुब्ध होकर (आँच पाकर) पकता है। यह रसों का रस है, मधुओं का मधु है। इस प्रकार मधु-विद्या की रहस्यवादी व्याख्या प्रस्तुत की गई है। मधु विज्ञान को ब्रह्म विज्ञान का पर्याय माना गया है। वह, जो इस विज्ञान को जानता है, देवता हो जाता है। देवताओं की तरह ही वह न इस मधु को खाता है और पीता है, बल्कि देखकर (बोध प्राप्त कर) तृप्त हो जाता है। इसलिए कि यह स्थूल मधु नहीं, भाव मधु है। इस विज्ञान को ब्रह्मा ने प्रजापति से कहा, प्रजापति ने मनु से, मनु ने प्रजाओं (मनुष्यों) से कहा है। ऐसे स्थलों पर भाषा का स्वरूप ही ऐसा हो गया है। कोई बौद्धिक पथ से इसका अनुगमन नहीं कर सकता; क्योंकि यह प्रातिभ बोध का और समाहित ऋषि-प्रज्ञा का क्षेत्र है। आधुनिक विद्वान् इसे वस्तुवादी बौद्धिक विश्लेषण द्वारा समझना चाहते हैं और जब समझ नहीं पाते तो इसे आत्मसम्मोहित मनःस्थिति का प्रलाप घोषित कर देते हैं।

वैदिक ऋषि सृष्टि को अग्नि और सोम का अर्थात् तेज और मधु का सामंजस्य मानता है। दोनों का मूल आधान है सविता (सवितृ)। वह 'द्यु' लोक में स्थित है। उपर्युक्त वर्णन में 'आदित्य' या 'सूर्य' शब्द इसी सविता के द्योतक हैं, अंतरिक्ष के सूर्य या आदित्य के नहीं, जो भुवन (अंतरिक्ष) में उसका दृश्यमान प्रतिनिधि है। प्रारंभ में ही कहा गया है कि द्यु लोक (आकाश) में वह तिरछा बाँस है, जिसपर सविता मधु चक्र के रूप में स्थित है। इस सविता को ही ऋषि चरम देवता मानता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। इस आर्ष विश्वास के अनुरूप ही सर्वाधिक महिमामय 'ऋक्' इसको ही संबोधित है—'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्'। यहीं गायत्री है। यह उस सविता की प्रार्थना है, जो देव शक्तियों का 'मधु' (सत्त्व) है और जो अंतरिक्ष में आदित्य व सोम बनकर स्थित है, पृथ्वी पर अग्नि (रुद्र) है। इससे ही हम प्रार्थना करते हैं कि यह हमारे 'श्री' (प्रज्ञा और कर्म) को प्रचोदित करे। 'श्री' का अर्थ प्रज्ञा और कर्म दोनों ही होता है (निरुक्त)। अकेले-अकेले प्रज्ञा अथवा कर्म लँगड़े या अंधे हैं। यह बात ऋषि खूब जानता था। 'कर्म' से मधु प्राप्त होता है। ऐसा वेदों में कई स्थलों में कहा गया है। मधुमती सूक्त के अंदर विविध सत्ताओं को मधु स्रोत बताया गया है। उन सारे स्रोतों का मूल स्रोत 'सविता' ही है। कई वैदिक क्रियाओं में मधुमती के सूक्त के साथ सविता के इस मंत्र को जोड़कर प्रस्तुत करने का विधान है।

'मंथ विद्या' के वर्णन में (वृहदारण्यकोपनिषद्, अ. ७, ब्रह्मांड) में 'मंथ' (आहुति द्रव्य) का हवन करने के बाद अवशिष्ट मंथ का 'तत्सवितुर्वरेण्यं···' को मधुवाता ऋतायते···' से अंतर्ग्रथित करते हुए भक्षण करता है। इसे तीन ग्रासों में करने का विधान है, एक-एक खंड का उच्चारण करते हुए—'ओ३म तत्सवितुर्वरेण्यं। मधुवाता ऋतायते। मधुक्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सत्वोषधि। भूःस्वाहा। (१)' भर्गो देवस्य धीमहि। मधु नक्तमुतोषसो। मधुमत् पार्थिव रजं। मधु द्यौरस्तु नः पिता। भुवः स्वाहा। (२) धियो यो नः प्रचोदयात्। मधुमात्रो वनस्पतिर्मधुमान अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तुनः। स्वः स्वाहा (३)।'

—इस मंथ विद्या के संदर्भ में कहा गया है कि यदि इसे सूखे काष्ठ पर डाल दिया जाए तो हरे-हरे पत्ते निकल आएँ। इस बात का तात्पर्य व्यंजनागत है। इसका अर्थ यही है कि इस मधु विज्ञान पर आश्रित मंथ विद्या की उपासना नीरस एवं ऊसर जीवन में भी मधु (रस, आनंद) और सृजन शक्ति का संचार करती है। इससे जीवन में ब्राह्मी श्री प्रतिष्ठित हो जाती है। यह दिव्य 'मधु' है, अतः इसके द्वारा लब्ध श्री भी दिव्य है। अर्थात् 'वस्तु' नहीं, 'भाव' है। यह एक प्रकार की मानसिक ऋद्धि है, जिससे व्यक्तित्व अवदमनमुक्त और सर्जनशील होता है। मध्यकालीन संतों ने इसे ही 'अमी' कहा है, जो बिना किसी क्रिया-योग के भाव साधना लब्ध होती है। इस 'मंथ' को 'वस्तु' रूप में देखना वैसे ही गलत है जैसे अर्चा विग्रह को पत्थर कहना। मंथ भक्षण या उसका आधुनिक रूप प्रसाद-भक्षण स्थूल कर्म नहीं, भाव-आहरण है। सच्चाई तो यह है कि चिंतन सर्वदा एक मिली-जुली प्रक्रिया होती है। इसे वस्तुगत और भावगत कोठरियों में बाँटते चलना और वह भी कुछ ऐसे ढंग से गोया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मन के भीतर इनकी अलग-अलग कोठरियाँ हों, आधुनिक विश्लेषण पद्धति की रीतिबद्ध भंगिमा है। ऐसा विश्लेषण एक खास कोण से विषय को समझने के लिए भले ही उपयोगी हो, परंतु यह असलियत को दृष्टि से ओझल करता है। अतः इस पद्धति का उपयोग करते समय इसकी आंशिक क्षमता का सदैव स्मरण रखना उचित होगा; क्योंकि मन तो किसी विषय में अभिनिवेश करने पर अपनी पूरी संपूर्णता में, अपनी पूरी 'संहति' में क्रिया करता है, जिसमें वस्तुगत और भावगत दोनों प्रकार के मानसिक प्रवाह संश्लिष्ट रहते हैं।

वैदिक ऋषि प्राणवादी थे। कुछ विद्वानों ने इस तथ्य को इस रूप में रखने का प्रयास किया है, गोया यह वैदिक ऋषि के सहज अध्यात्मवादी रुझान का निषेध हो। वे 'प्राण' से जुड़े थे तो इसका अर्थ वे बैठाते हैं कि मूलतः देहवादी ही थे, उनका प्राणवाद 'आदिम भौतिकवाद' है। 'अध्यात्म' का आवरण तब चढ़ाया गया जब वे शोषक वर्ग या प्रशासक की दुरभिसंधियों के पोषक बने। प्रमाण में संदर्भ से काटकर ऐसे उदाहरण दे देते हैं, जहाँ कहा गया है—'अन्न ही ब्रह्म है' या 'वह पुरुष अन्नमय आत्मा है' अथवा 'प्राणमय आत्मा' है। पर पूरे संदर्भ में रखकर इन वाक्यों का अर्थ नहीं देखते या दिखाते हैं। उनकी तर्क पद्धति शुद्धतः तिकड़म या वाक्पटुता का जाल होती है। उपनिषदों में 'प्राण' को सृष्टि का मूल उपादान अवश्य कहा गया है; पर वहाँ प्राण का अर्थ भौतिक प्राण या प्राणवायु नहीं है और न ही मात्र स्नायुमंडल तक सीमित मानसिक अनुभूतियाँ हैं। 'प्रश्नोपनिषद्' में बहुत स्पष्ट ढंग से बताया गया था कि सृष्टि के मूल उपादान 'प्राण' और 'रयि' हैं। आधुनिक भौतिकवादी जिसे 'प्राण' कहते हैं वह बहुत कुछ 'रयि' के अंतर्गत आता है। महर्षि पिप्पलाद से कबंधी कात्यायन का प्रश्न है—'भगवन्, किस कारण या हेतु से, कहाँ से यह प्रजा उत्पन्न होती है?' महर्षि का उत्तर है—'प्रजापति ने प्रजा उत्पन्न करने के लिए तप किया और तप करके एक 'प्राण' और दूसरा 'रयि', इनका जोड़ा उत्पन्न किया कि इनसे प्रजा उत्पन्न होगी। समष्टि की सूक्ष्म जीवनी शक्ति 'प्राण' है और भूत समुदाय का स्थूल उपादान 'रयि' है।'

इसी बात को अन्यत्र ऋषियों ने 'पुरुष-प्रकृति', 'अग्नि-सोम' अथवा 'सत्य-ऋत' के जोड़े के रूप में कहा है। इससे स्पष्ट है कि 'प्राण' की वैदिक अवधारणा स्थूल या भौतिकवादी नहीं है। पिप्पलाद ने कई उदाहरणों से समझाया है, 'आदित्य' प्राण है, रयि चंद्रमा है। यों दोनों मिलकर मूर्त्त और अमूर्त्त संसार रचते हैं। स्थूल शरीर का पोषण चंद्रमा (सोम) द्वारा होता है और उसमें सूक्ष्म जीवनी शक्ति 'वैश्वानर' रूप विश्व प्राण है। प्रजापति के संवत्सर रूप में उत्तरायण 'देवयान' प्राण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है, जो परमात्मा की ओर जाने का पक्ष है; दक्षिणायन पितरयान ही 'रयि' है, जो 'प्रजाकामा'—जन्म लेनेवालों का मार्ग है। इस वैश्वानर रूप विश्व प्राण का वर्णन उन विशेषणों से है जो केवल परम सत्ता 'ब्रह्म' पर ही लागू होते हैं—'विश्वरूप हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्। सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः' (प्रश्नोपनिषद्, १/८)। अहोरात्र में दिन 'ब्रह्मचर्य' का प्रतीक है और यह प्राण है, रात्रि रति-क्रिया का काल है, क्योंकि 'रयि' है। शुक्लपक्ष 'प्राण' है, कृष्णपक्ष 'रयि' है और इसीसे शुक्लपक्ष में यज्ञ करते हैं, कृष्णपक्ष में यज्ञेतर (सकाम) कर्म। इस प्रकार विपरीतधर्मी जोड़े दिखाने से ऋषि स्पष्ट कर देता है कि प्राण का संबंध सूक्ष्म, पराभौतिक और आध्यात्मिक से है और रयि का स्थूल, भौतिक तथा भोगवादी वृत्ति से है। ऋषि 'रयि' को लोकयात्रा के लिए स्वीकार करता है, पर 'प्राण' उसकी उपासना का लक्ष्य है। इस सामंजस्य के भीतर ही प्राणवाद का अर्थ समझना चाहिए। 'प्राणमय' पुरुष का अर्थ अधिक स्पष्ट होता है तैत्तिरीयोपनिषद् के प्रथम छह अनुवाकों में, जहाँ पुरुष का 'पंचकोषात्मक' (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय) वर्णन है। ये पुरुष की सत्ता के पाँच कोष हैं, जिनमें पूर्वापर रूप में अगला कोष पूर्व कोष के भीतर निवास करता है। अन्नमय शरीर (गृह) के भीतर शरीरी (गृही) है प्राणमय, प्राणमय शरीर के भीतर शरीरी है मनोमय, मनोमय शरीर के भीतर शरीरी है विज्ञानमय और विज्ञानमय के भीतर है आनंदमय। क्रमिक रूप में पहले के भीतर 'अगला अंतर्यामी' रूप में स्थित है। अपने से पूर्व का वह शरीर (शरीरी/देही) आत्मा है। पुरुष की सत्ता संश्लिष्ट एवं पंचकोषात्मक है और सूक्ष्मतम कोष है आनंदमय। इसको सुपर्णपक्षी के रूप से बताया गया है, जो अपना प्रिय है वह इसका शिर है, आमोद दक्षिण पंख है, प्रमोद वाम पंख है। आनंद इसकी आत्मा (केंद्रीय भाग) है और पुच्छ रूपी प्रतिष्ठा (आधार) है 'ब्रह्म'। अतः वैदिक चिंतन का प्राणवाद 'अन्न' (स्थूल देह) से लेकर अंतर्यामी आनंद रूप 'ब्रह्म' तक विस्तृत है। यह एक समन्वित और संश्लिष्ट दृष्टि है।

आधुनिक चिंतन-पद्धति भौतिकता और अध्यात्म, वस्तु और भाव, देह और आत्मा को विच्छिन्न कोटियों के रूप में लेने की अभ्यासी है; अतः वह या तो इस स्थिति को समझ नहीं पाती अथवा जानकर भी कुतर्क करती है। इस समन्वित संश्लिष्ट दृष्टिक्रम में ही 'अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष' को समन्वित आचरण दृष्टि को मान्यता मिली। अब भारतीय चिंतन और शीलाचारिकी को इस दृष्टि से न देखकर अपने पक्ष की सुविधा के लिए मात्र भौतिकतावादी अथवा मात्र अध्यात्मवादी कहना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक दुराग्रह मात्र है।

अतः निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं—(१) ऋषि चिंतन-पद्धति में बोध का प्रधान पथ प्रातिभज्ञान रहा है और प्रातिभज्ञान एक संगत मार्ग है। (२) प्रातिभ से लब्ध बोध को मात्र वस्तुवादी चिंतन प्रारूप में घसीटना उसका अवमूल्यन करना है, विकृत (कैरीकेचर) करना है और अभारतीयकरण करना है। (३) ऋषियों का प्राणवाद एक ओर देह और दूसरी ओर आत्मा के बोध से निरंतर जुड़ा चलता है और यह सत्ता समन्वित-संश्लिष्ट बोध है। (४) भारत की मूल परंपरा आध्यात्मिकतोन्मुख रही है और इस परंपरा के प्रति निष्ठा भंग करने के उद्देश्य से प्रत्यक्षतः निहित स्वार्थवश या निहित स्वार्थवाली शक्तियों द्वारा आरोपित सम्मोहनवश ही ऐसा हो रहा है। यह बहुत कुछ मध्यकालीन आक्रांताओं द्वारा किए गए मंदिर-ध्वंस और मूर्ति-भंजन जैसा ही कार्य है, जिसका उद्देश्य है हमें 'संशयात्मा' और 'आत्म-संदिग्ध' करना।

□

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उत्तर फागुन में सूर्य-स्तवन

"'कम्युनिज्म स्वयं में आधुनिक मन की एक ऊँचे दर्जे की कविता है। अतः साहित्य की दृष्टि से शाल-मंजरी लक्ष्य है और शाल-काष्ठ उपलक्ष्य। शास्त्र के संदर्भ में यह क्रम उलट जाता है। प्रभावी शास्त्र और दीर्घजीवी कविता में दोनों उपस्थित रहते हैं, यही झगड़ा लक्ष्य और उपलक्ष्य को लेकर है। कौन ज्येष्ठ, कौन कनिष्ठ—यही झगड़ा है। ज्येष्ठ महत्त्वपूर्ण होता है तो कनिष्ठ दुलरुआ। दोनों का अपनी-अपनी जगह पर महत्त्व है। परंतु इतनी जल्दी, इस तरह सुलह-सपाट कर लेने पर हम बुद्धिजीवियों की रोजी-रोटी कैसे चलेगी? हम तो कोई प्रतिपक्ष न रहे, तो भी हवा से ही कुरुक्षेत्र महासमर चालू कर रखेंगे।'"

मैं आजकल एक बीस-बाईस एकड़ विस्तृत आम्रवन के एकांत में वैसे ही रहता हूँ जैसे लोककथाओं के काम्यकवन में कोई अभिशप्त यक्ष या पिशाच रहता हो। पिशाच कहना ही ज्यादा ठीक होगा; क्योंकि यक्ष-गंधर्व तो बड़े आमोदप्रिय जीव होते हैं। निरानंद जीवन या तो तपस्वी जीते हैं, नहीं तो पिशाच। तपस्वी होना सबके वश की बात नहीं; पर पिशाच बन जाना तो बड़ा आसान है। मैं रात-दिन इसी उधेड़बुन में मर रहा हूँ कि यह 'माघ' है कि 'मेघ' है; और मुझे कोई राजा भर्तृहरि या कवि कालिदास नहीं मिला, जो यह बता दे—'हे महामूर्ख पिशाच राजा! यह 'माघ' है और न 'मेघ' है। जो असल बात है वह यह है कि तुम्हारे मन में ही निरंतर ठंडा बतास बह रहा है, जिसके कारण तुम्हारे शीत-दग्ध प्राण अपने भीतर के सूर्य के साथ कोई संवाद स्थापित नहीं कर पा रहे हैं।' यह तो मैं भी जानता हूँ कि भीतर प्रत्येक जन की आत्मा में सूर्य है, ज्वलंत अग्निशिखा है, जिसके साथ यदि किसी तरह संवाद स्थापित हो जाए तो आदमी बाद में चाहे देवता बने या असुर, पर पिशाच

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

योनि से तो छुटकारा मिल ही जाएगा; पर ऐसा हो तब न। ऐसा संयोग नहीं बन पा रहा है। इसीके लिए तो अब तक मैं फागुन की प्रतीक्षा कर रहा था। आने दो फागुन को, तब मैं इस सूर्य-स्नात घर और भीतर के सूर्य-स्नात मन को पाकर वर्तमान की केंचुल से मुक्त हो जाऊँगा और देव-दानव न सही, अपने मनुष्य तत्त्व का बोध तो अवश्य करूँगा। वह चिर प्रतीक्षित फागुन आ भी गया; पर कहने-भर को ही। यह पंडितों के पंचांग की गवाही के बावजूद फागुन होकर भी फागुन नहीं है। इस वर्ष शीत लहरी के भीतर फागुन तो माघ का भी कान काट रहा है; पर बात केवल इस वर्ष की ही नहीं है। सनातन से फागुन मास के पूर्वार्द्ध यानी कृष्ण पक्ष के 'फागुन' शब्द से जुड़ी वासंती रूमानियत का कोई संबंध नहीं रहा है। हड्डियाँ फोड़ती हुई सवेरे की सर्दी और गुलाबी जाड़े का काल यही है। पत्तियों का पीला पड़ जाना, शीत-दग्ध होकर फिर झड़ जाना, बाग-बगीचों का भग्नबाहु, जर्जरगात हो जाना, चारों ओर विषाद की पीली-पीली उदासी, जरा-मरण के श्रोत पर भासमान सृष्टि के दृश्य-परिदृश्य—ये सब मन में 'फागुन-फागुन' जैसा भाव नहीं पैदा करते। यह परमा प्रकृति का उदासी-भरा रूप है, सुलगती हुई धूप-काठी जैसा पवित्र, सुगंधित; परंतु उदास-उदास मन में प्रणय, अनुराग, महाराग जैसे सुंदर-सुंदर, कोमल-कोमल मांगलिक भाव पैदा नहीं होते, बल्कि एक वैराग्य-संपृक्त निर्वेद का भाव ही पैदा होता है। अवश्य ही चित्त यदि संस्कारी हो तो मनुष्य इसमें भी एक तल्लीनता प्राप्त कर सकता है, एक रस पा सकता है; आखिर शांत रस का स्थायी भाव तो निर्वेद ही है और शांत भी एक रस माना ही गया है। कुछ लोगों के अनुसार तो शांत ही चरम रस है। परंतु मेरा चित्त उतना संस्कारी कहाँ! मेरा दशमुख मन तो इस बात का शवमुख प्रतिवाद करता है। मैं तो चरम रस यानी रसराज का आसन शृंगार रस को ही देता हूँ। वैसे तो वैष्णव महापुरुषगण भी यही कहते हैं—'बानी को सार सिंगार बखानौ, सिंगार को सार किशोर-किशोरी'; पर वे कुछ और ही ढंग से इस बात को सोचते हैं, कहते हैं और मेरे जैसे दशेंद्रिय छापवाले 'दस नंबरी' का सोचना-कहना कुछ और ही ढंग का है। उनके गुरु थे वेदव्यास, व्यास के गुरु थे नारद, नारद के ब्रह्मा और ब्रह्मा के स्वयं नारायण। इधर मेरी गुरु परंपरा सीधे-सीधे लॉर्ड मैकाले से आती है, जिनकी प्रतिज्ञा ही यह थी कि पचास वर्षों के भीतर हिंदुस्तान में एक भी मूर्तिपूजक नहीं रहने दूँगा। दवा का असर होने में कुछ समय लगता है। अतः पचासवाली बात सौ-डेढ़ सौ वर्ष बाद होने जा रही है तो आश्चर्य ही क्या है! हमारे शृंगार के केंद्र में 'किशोर-किशोरी' कुछ और ही हैं और जो हैं वह 'तू चीज बड़ी है मस्त-मस्त'।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैष्णव महापुरुषगण किसी बात को हमारी तरह सीधी रेखा में नहीं देखते। उनकी चिंतन-पद्धति ही वृत्ताकार है। उनका कहना है कि जहाँ से चलो, फिर वहीं पर अंत में जाकर खड़े होओ। परंतु यह तो कोई प्रगति नहीं हुई और हम प्रगति के विश्वासी नहीं, अंधविश्वासी हैं। इसीसे उनकी बात हम समझ नहीं पाते। उनका कहना है कि रस की विकास रेखा एक वृत्त बनाती है। वे जीवन को लौकिक और अलौकिक—दो भागों में बाँटकर देखते हैं। हम अलौकिक की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते—हमारी गुरु परंपरा का यही आदेश है। वैष्णव का कहना है—रस-वृत्त के शीर्ष पर श्रृंगार रस है, जो लौकिक रस का प्रस्थान-बिंदु है और वहाँ से अवरोहण की यात्रा शुरू होती है और करुणा, वीर, रौद्र होते हुए शांत रस पर, वृत्त के तल-बिंदु पर समाप्त हो जाती है तथा लौकिक जीवन की रस समाप्ति का यही बिंदु है। फिर इस तल-बिंदु से यानी शांत रस से अलौकिक की ओर आरोहण शुरू होता है और शांत से दास्य, दास्य से सख्य, सख्य से वात्सल्य और वात्सल्य से फिर वृत्त का अर्धचाप पूरा करते हुए अलौकिक का चरम बिंदु वही श्रृंगार रस बन जाता है; परंतु उसका नाम, गोत्र बदल जाता है और इस बार उसे कहते हैं—'माधुर्य' रस। इस प्रकार वृत्त पूरा होता है, परंतु रस की अंत:प्रकृति बदल जाती है। अत: रसराज श्रृंगार ही मोर-मुकुट-मुरली से सज्जित होकर माधुर्य बन जाता है और वही वाणी का 'सार' है, वाणी की चरम सिद्धि है। वैसे है यह बड़ी अद्‌भुत अवधारणा कि लौकिक रसों का अंतिम रस अलौकिक का प्रस्थान-बिंदु है और अलौकिक घूमता-फिरता पुन: लौकिक के प्रस्थान पर ही जाकर अपनी चरम सार्थकता पाता है। सारे लौकिक रसों को भोग लेने के बाद अंत में विराग या निर्वेद आता है और 'शांत' की भूमि में हम प्रवेश करते हैं, यह बात तो बड़ी सीधी है, समझ में आ जाती है; पर रस-यात्रा का दूसरा अलौकिक अध्याय शांत से चलकर 'माधुर्य' अर्थात् 'दिव्य श्रृंगार रस' तक पहुँचने की बात नवशिक्षित बुद्धिजीवी समझ नहीं पाता; क्योंकि उसने अपने को समझने के उत्तराधिकार से वंचित कर रखा है और उसे यह 'माधुर्य' या दिव्य श्रृंगार भी मात्र कामाचार ही लगता है। वह अलौकिक रस की नदी के तट पर खड़ा-खड़ा कुत्सित वाक्य बोलते हुए नदी की निंदा करता है और ऐसा करने में अपनी आधुनिक दृष्टि की बहादुरी मानता है। लोग बताते हैं कि मरने पर जीवात्मा जब आकाश मार्ग पर आगे बढ़ती है तो रास्ते पर एक ऐसा बिंदु आता है, जहाँ दो रास्ते फूटे हैं—एक परम धाम की ओर, दूसरा पुनर्जन्म लेनेवाले पितरलोक की ओर। वहाँ पर न तो कोई पहरेदार है, न 'प्रवेश निषेध' का बोर्ड लगा है। परंतु जीव अपने कर्मों की स्मृति के अनुसार स्वयं चालित रूप में अपने प्राप्य मार्ग पर अवश

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की भाँति चल देता है, अपने प्राप्य गंतव्य, मुक्ति अथवा पुनर्जन्म के अनुसार। यहाँ भी बात बहुत कुछ ऐसी ही है। अपने नवशिक्षित मन के संस्कार और स्मृतियाँ ही अवरोधक बन जाती हैं और नया बुद्धिजीवी वैष्णव महापुरुषों की भाषा में स्नान करने से अपने को गर्वपूर्वक वंचित कर लेता है। उसका आधुनिकता-गर्व अपने मूल रूप में उसी किस्म का गर्व है, जो नवशिक्षित संस्कृति में 'इतनी आ रही अंग्रेजी जानते हैं कि हिंदी बोल नहीं पाते' जैसे आदर्श वाक्यों में एवं गर्वोन्नत 'हिंदरेजी' भंगिमा में मिलता है; क्योंकि ये एक ही व्यूह से प्रसूत हैं और इनके अवचेतन में कहीं-न-कहीं लॉर्ड कार्नवालिस का प्रसिद्ध वाक्य 'देशवाली (नेटिव) जन्मजात भ्रष्ट होता है।' अवश्य रहता है। नवशिक्षा ने हमारी बुद्धि को तर्कशक्ति और वैज्ञानिक चिंता दी है। यह एक उपलब्धि है। परंतु साथ ही यह हमें देशी मूल से, देशी चिंतन-पद्धति से समूल विच्छिन्न करने का अभिचार-पुरश्चरण है। यह भी कटु सत्य है। हर एक किस्म के देशीपन के प्रति उच्चाटन भाव और देशी अवधारणाओं को पश्चिम के उन्नीसवीं सदी के कुछ सर्वग्रासी अर्धसत्यों की कसौटी पर ही समझने का दुराग्रह इस नवशिक्षा का केंद्रीय दोष है।

बात चल रही थी फागुन की और मैं बहक गया वैष्णव भाव धारा के संदर्भों की ओर। परंतु यारो, इस फागुन में न बहकूँ तो फिर कब बहकूँ ? जेठ-बैसाख की तप्त दुपहरी में ? बैसाख में तो 'बैसाखनंदन' ही बहकते हैं और चाँदनी रातों में 'हीं-पो, हीं-पो' का ऑर्केस्ट्रा चालू कर देते हैं। फागुन तो वैष्णवों का ही दुलरुआ है, विशेषतः उत्तर फागुन। पूर्वार्द्ध फागुन तो शिशिर का अंग है, अतः वैराग्य का, उदासी का उच्चाटन मंत्र पढ़ता है, पर उत्तर के फागुन की प्रकृति कुछ और ही है। उत्तर फागुन सम्मोहन-वशीकरण का इंद्रजाल उतारने लगता है और वैष्णव महाजनों के अनेक पद मन-मन में स्मरण आने लगते हैं, जिनके अवदान से, अवदान क्या आशीर्वाद से कहें तो ठीक होगा, हमारी भाषाएँ पवित्र हो गईं, पुण्य-सलिला हो गईं और आज के सारे अहंकार-महोच्चार के बावजूद विश्व साहित्य को जो हमारी भाषा का श्रेष्ठतम अवदान है, वह 'तुलसी-सूर-कबीर' का त्रिक ही है। ये तीनों मिलाकर एक पूर्ण इकाई बनाते हैं, ऊपरी अभिधागत या आचारगत प्रमोद को अतिक्रांत कर तीनों एक हैं, और उनके ऐक्य को अशिक्षित भारत खूब समझता है। नवशिक्षित के मानसिक अवरोध और उसके निहित स्वार्थ उसके भीतर यह समझ पैदा नहीं होने देते कि प्रत्येक भक्त संत होता है और प्रत्येक संत भक्त। तीनों मिलकर हिंदुस्तानी मन के 'सतश्री अकाल' की इकाई बनाते हैं। जो तुलसी के प्रति अथवा कबीर के प्रति सचमुच श्रद्धांजलि है, वे इस 'सतश्री अकाल' का अर्थ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समझते हैं और इसे लेकर विवाद-शास्त्रार्थ में उतरना पसंद नहीं करते हैं। परंतु जो तुलसी को अथवा कबीर को अपनी विचारधारा का एक हथियार मात्र मानते हैं, वे इसे समझ नहीं पाते। समझेंगे कैसे? किसीको समझने के लिए उसके मर्म में उतरना पड़ता है और इसका तरीका लट्ठ-प्रहार नहीं। श्रद्धा, ईमानदार होगी, तभी श्रद्धेय का मर्म हम पा सकते हैं। परंतु श्रद्धा को रणनीति का अंग बनाना ही जब उद्देश्य हो तो वह ईमानदार नहीं रह पाती। यह बात श्रद्धावादियों और श्रद्धा-विरोधियों दोनों पर लागू होती है। इसीसे प्रथम भक्त नारद ने स्पष्टतः आदेश दिया है—'वादो नावलम्बनः। बाहुल्यावकाशत्वात् अनियन्त्रितत्वाच्च'—शास्त्रार्थ मत करो, क्योंकि इसमें अतिवाद और अनियंत्रण में पतित हो जाने का अवकाश रहता है और अपनी भाव-साधना विरूप हो जाती है। विवाद का अंत नहीं है और उसका कोई संतोषजनक परिणाम नहीं होता। विवेकानंद ने भी इसीसे कहा था कि दुर्धर्ष पक्षपात कठिन दुराग्रह इतना उपेक्षणीय होता है कि उसका विरोध करना भी उसे प्रकारांतर से मान्यता देना होगा। इस अनावश्यक शक्ति क्षय से बचने के लिए ही हमारे जैसे सामान्य जनों के लिए 'देवानांप्रिय' प्रियदर्शी सम्राट् ने दो हजार वर्ष पूर्व अपने शासनादेश में टंकित कराया था—'पूजितेव परपाखण्डच'—दूसरों का पाखंड (मत) भी पूजनीय ही मानकर चलो। पर काठ की तलवारें भाँजते हुए मध्यवर्गीय नवशिक्षितों को अपने देश की इन परंपराओं से क्या लेना-देना! यद्यपि उत्तर फागुन का पत्ता-पत्ता, किसलय-किसलय उनके इस मनोभाव के विपरीत बोल रहा है और जंगल-जंगल में वसंत ओष्ठलग्न तर्जनी द्वारा चुप रहने का संकेत कर रहा है।

तो 'फाल्गुन एशेछे वने-वने' में रूप-रस-गंध की हाट उतरी है, 'ऋतूनां कुसुमाकर' का आगमन हो चुका है। रंग-बिरंग और चित्र-विचित्र। रंगों और चित्रों की यह धमाचौकड़ी असंख्य अनामा घास-फूलों, टूसों और किसलयों के कारण ही ज्यादा अर्थवान् लगती है, अन्यथा परिचित फूलों में शुद्ध वासंती फूल तो कम ही होते हैं और हिंदुस्तान की कौन-सी ऋतु 'कुसुमाकर' नहीं है? वर्षा में ही कदंब, कचनार, बेला, चमेली, जूही, मालती, मल्लिका का 'सुमन' वर्ग तो मिलता है। 'सुमन' माने ही होता है ये वार्षिकी फूल। 'सुमन' से ही अरबी में 'यास्मीन' बना और अरबी से अंग्रेजी में 'जैस्माइन'। जाड़े में शेफाली, हरसिंगार और गेंदे की बहार है। हाँ, फूलों के राजा गुलाब और कमल वसंत-ग्रीष्म में ही खिलते हैं। उपवनों में लाल चटक अशोक और 'मोरपंखी' खिलते हैं। जंगल में पलाश, सेमल आग की तरह अट्टहास करके फटते हैं। ये गंध के द्वारा नहीं, रंग के द्वारा मन को खींचते हैं। पीला कनेर, रक्तजवा और बंधूक ग्रीष्म-वर्षा के फूल हैं, जिनका वर्ण बड़ा उग्र-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उत्तेजक होता है। संस्कृत के एक कवि को कर्णिकार (कनेर) के उग्र-उत्तेजक रूप की प्रशंसा में एक श्लोक लिख देने पर ही 'कवि कर्णिकार' की उपाधि मिल गई। वह कवि है 'श्रीकंठचरित' का रचयिता श्री मंख। अपने उद्दीपक रंग के कारण कर्णिकार भी सौभाग्य-पुरुष माना गया है। तो, कहने का तात्पर्य यह कि कुसुमाकर तो हिंदुस्तान की हर एक ऋतु ही है; पर वसंत को गौरव मिला है सरोवर के सजाधिराज कमल के कारण, उपवन की आम्र-मंजरी के कारण और जंगल की शाल-मंजरी के कारण। शाल-मंजरी में एक अद्‌भुत सादा सौंदर्य और सौंदर्य से भी बढ़कर एक मादक सुगंध होती है, जिसपर रवींद्रनाथ का मूल संश्लिष्ट देशी मन न्योछावर था। वे तो साहित्य के लक्ष्य की परिभाषा ही शाल-मंजरी से देते थे। उनका कहना था कि साहित्य का लक्ष्य काष्ठ नहीं, शाल-मंजरी ही है। काष्ठ के लिए साहित्य में जगह है, परंतु वह उपलक्ष्य है, उसका लक्ष्य नहीं। आज की दृष्टि से यह एक अत्यंत विवादास्पद कथन है। बिना काष्ठ के शाल-मंजरी आएगी कहाँ से? रवींद्रनाथ भी काष्ठ, शाखा, टहनी, पत्ता और फल समेत समग्र वानस्पतिक सत्ता को जीवन और साहित्य में स्वीकार करते हैं। परंतु उनका कहना यही है कि बिना 'मंजरी' के केवल काष्ठ से 'शास्त्र' बन सकता है, मनुस्मृति और अर्थशास्त्र बन सकते हैं, पर साहित्य नहीं बन सकता। साहित्य बनने के लिए शास्त्र को भी 'चोवा-चंदन-अरगजा' पोतकर साज-सिंगार करना पड़ता है। बात भी सही लगती है। शास्त्र भी तभी शक्तिशाली और प्रभावकारी होता है। कुरानशरीफ, रामायण, महाभारत, गीता, भागवत ऐसे ही शास्त्र हैं। काष्ठ तथ्य है, मंजरी भाव है। हरबर्ट रीड ने तो 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' का काव्यिक विश्लेषण करके दिखा दिया है, तर्कों के बीच में शक्तिशाली भावावेग की उत्तेजक कविता किस तरह पिरोई गई है। कम्युनिज्म स्वयं में आधुनिक मन की एक ऊँचे दर्जे की कविता है। अत: साहित्य की दृष्टि से शाल-मंजरी लक्ष्य है और शाल-काष्ठ उपलक्ष्य। शास्त्र के संदर्भ में यह क्रम उलट जाता है। प्रभावी शास्त्र और दीर्घजीवी कविता में दोनों उपस्थित रहते हैं, यही झगड़ा लक्ष्य और उपलक्ष्य को लेकर है। कौन ज्येष्ठ, कौन कनिष्ठ—यही झगड़ा है। ज्येष्ठ महत्त्वपूर्ण होता है तो कनिष्ठ दुलरुआ। दोनों का अपनी-अपनी जगह पर महत्त्व है। परंतु इतनी जल्दी, इस तरह सुलह-सपाट कर लेने पर हम बुद्धिजीवियों की रोजी-रोटी कैसे चलेगी? हम तो कोई प्रतिपक्ष न रहे तो भी हवा से ही कुरुक्षेत्र महासमर चालू कर रखेंगे।

परंतु इस उत्तर फागुन में सबकुछ 'मधुर-मधुर रसराज' ही नहीं है। बहुत कुछ ऐसा भी है, जो शाल-मंजरी की गंध से विमत्त कवि मन के निरीक्षण से बाहर की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बात है। वसंत कवियों की ही ऋतु नहीं, किसानों की भी है। फागुन-चैत किसानों के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मास हैं, विशेषतः गंगातीरी किसानों के लिए, जिसकी अगहनी की फसल बाढ़-बन्या से हर एक साल आधा-तिहाई ही हो पाती है और सर्व आशा का केंद्रबिंदु चैती ही रहती है। उत्तर फागुन उसके मन में भी सुख की बाँसुरी बजा जाता है, पर एक भिन्न ताल में। किसान भी फागुन में एक कविता पढ़ता है, जो रवींद्र काव्य से भिन्न रस की कविता है। यह लौकिक-अलौकिक चौदह रसों से भिन्न तरह की जिजीविषा रस की कविता है, जिसका स्थायी भाव है आश्वासन। उत्तर फागुन किसान को एक आश्वासन देता है, जिससे वह जीने में रस का अनुभव कर सके। किसान मन के लिए उत्तर फागुन का अर्थ होता है आर्द्रता रहित सूखी 'फगुनहटा' हवा के झकोरे और सहस्रधार बरसती किरणों की धूप, जो फसल पकने के लिए जरूरी है। वह वसंत को 'कुसुमाकर' रूप में नहीं, प्राणों के सखा मारुत और मधुमय सूर्य की ऋतु के रूप में देखता है। शीत के बाद यह धूप-काल सुखद है, गरम फगुनहटा की पछुआ बयार का स्पर्श सुखद है, सूरज सुखद है। किसान फागुन को पहचानता है अपनी शस्य-श्री के संदर्भ में, अपने घर-आँगन के संदर्भ में, अपने आम्रवन-मधुकवन के संदर्भ में। पूरे शीतकाल में वह धूप के लिए तृषार्त्त रहा है। उसकी ऊष्मा-तृष्णा को फगुनहटा का सूरज और फागुनी पछुआ ही बुझाती है। यह पछुआ जब आकाश के एक छोर से दूसरे छोर तक झकझोरकर बहती है तो वातावरण का चेहरा मांगलिक हो जाता है। यह मांगलिकता कुछ और है। यह पुंसवनसी मंतोन्नयन के बाद वधू के चेहरे की मांगलिकता है, यह चूल्हे में जलती हुई पाकाग्नि की मांगलिकता है, यह तवे पर सिंक रही सोंधी रोटी की मांगलिकता है। इस मांगलिकता में 'तपस' है, प्रतीक्षा है, धीरज है, आँच और तपन है। साथ ही पकहर होती हुई पुष्टि है, नीरुजता है और तुष्टि है। अतः किसान मन के लिए तो फागुन माधवी रात्रि और चंद्रमा के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं बल्कि साफ, सूखे, स्पष्ट दिवस के लिए और सूर्य के लिए महत्त्वपूर्ण है। ऐसे दिनों में मैं स्वयं अपने पढ़े-लिखे शास्त्र ज्ञान को भूलकर किसान-मनोभूमि धारण कर लेता हूँ; यद्यपि कभी-कभी ही। सर्वदा नहीं हो पाता। अवचेतन में बैठा किसान सर्वदा चैतन्य के धरातल को स्पर्श दे नहीं पाता। पर जब ऐसा होता है तो मुझे भी लगता है कि फागुन में असली चंद्रमा तो सूरज ही है और फागुन-सूर्य की संज्ञा 'सोम' होनी चाहिए। ऋषियों ने कहा है कि मूल सृष्टि तत्त्व है 'सवितृ' या सविता। वही अपनी अग्नि-सोमात्मक को द्विधा विभक्त करके अंतरिक्ष में सूर्य (आदित्य) व (सोम) (चंद्र) बन जाता है और धरती पर पार्थिव 'अग्नि' एवं 'रस' सारी सृष्टि ही 'अग्नि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सोमात्मक' है। पर मैं मानता हूँ कि फागुन मास में 'सूर्य' भी 'सोम' ही है। यह मेरी आनुवंशिक किसान-चेतना का पक्षपात भले ही माना जाए, पर मुझे तो ऐसा ही लगता है। फागुन में सूर्य ही सोम रूप विष्णु है और किसान ही परम वैष्णव है। यह सूर्य उस चंद्रमा से कहीं ज्यादा खूबसूरत है, जो शीतल दृष्टि-सुख के साथ विकल दृष्टि-विभ्रम भी देता है, खेत-खलिहान के पेड़ दूर से अतिकाय 'वीर-बरम' बन जाते हैं और हर एक ठूँठ या झाड़ी मायाविन डायन जैसी लगती है, हर एक चेहरे पर पुती चाँदनी बदसूरत को खूबसूरत और अनजाना बनाकर प्रस्तुत करती है। यह चंद्रमा शक्ति में रजत का भ्रम, रज्जु में सर्प का भय पैदा कर देता है और काम तथा भय के संवेदनों से हमें मुग्ध ही नहीं, विमूढ़ भी कर डालता है। यह चंद्रमा सूरज से ज्यादा सुंदर होते हुए भी सूरज जैसा सुंदर नहीं। पर हमें चाहिए, जन सामान्य को चाहिए, किसान को चाहिए सूरज जैसा सुंदर, जिसमें कोई विभ्रम भ्रांति न हो, छल-कपट न हो, जो उतना ही सुंदर हो जितना सुंदर सत्य होता है। सत्य जैसा सुंदर होना ही असली सुंदरता है। 'सत्यं, सहजं, सुंदरम्।' यह सूरज सत्य की तरह तपता है, तपस्वी है और एक नैतिक सौंदर्य की दिव्य प्रभा से मंडित है—वैसे नैतिक सौंदर्य से, जो हमारे जातीय महाकाव्य रामायण में मिलता है। यह सूरज हमसे छल नहीं करता, हर एक दृश्य-परिदृश्य को साफ-साफ दिखा देता है। वह चंद्रमा की तरह मायावी, कुहकी और शौभनिक नहीं। वह हमारी दृष्टि का विभ्रम द्वारा हरण नहीं करता है। जो सौंदर्य अपनी विभ्रम भ्रांति द्वारा हमारी दृष्टि का हरण कर ले, उसे मैं अधिकार मानता हूँ, भले ही बाह्य रूप में वह सुप्रकाशित हो। वैसे ही जैसे नग्न नारी देह, जैसे लंका की भोगवादी संस्कृति, जैसे समृद्धि का नरक आधुनिक अमेरिका। अतः हमें सूर्य जैसा तीव्र तेजस्वी, स्वस्थ और अवदमनहीन सौंदर्य चाहिए; परिश्रम से पवित्र, तपःपूज सौंदर्य चाहिए। हमें सूर्य चाहिए, हमें अर्थात् इस तीसरी दुनिया के सामान्य जन को, जो चंद्रमा जैसे सौंदर्य की अभिचार लीला का अभी भी अभ्यस्त नहीं है। फागुन-सूर्य ऐसा ही है। इसीलिए मैं उसे किसी भी चंद्रमा से बहुत-बहुत अधिक सुंदर मानता हूँ। ऐसे सूर्य का स्वागत है।

'फगुनहटा में सूरज कोई रोमांटिक बिंब नहीं है। यह तो पकहर मन कवि है और तपस का प्रतीक है। पत्ते, पियराती हुई फसल, मीठे होते हुए दाने और भीतर बदलता हुआ खून—ये सब किसी रुग्णता के तथ्य नहीं। तपस से पकहर होता मन ही इनके रस को पहचान सकता है। सूर्य 'तपस' का प्रतीक है, ज्ञान का प्रतीक है। ज्ञान सब 'काषाय' जला देता है। काषाय कच्चेपन का रस है। काषाय जल गया। आत्मा परिपक्व हो गई। अमृत की सिद्धि हो गई। कल जो शाखाएँ टूस नग्न थीं,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आज उनकी पत्ती पर ताम्राभ चमकीले टूसे, किशलय आ गए। ऐसे चमकीले गोया सर्प-शावक हों। ताजा तेजस्वी प्राण का यही रंग है।

फगुनहटा हवाओं का सहचर सूर्य हमें गुलाबी धूप देता है। उसकी किरणों से मधु उतरता है। ये किरणें हमारी पियराती हुई फसल के कच्चे दानों को पकहर करके उनमें मिठास भरती हैं। उनका कुँआरा कच्चापन कटु-काषाय रहता है। ऊष्मा के परिपाक से ही दाने स्वादिष्ट और मीठे हो पाते हैं। सूर्य न रहे तो अन्न और फसल दोनों मीठे न बनें। शायद इसीलिए उपनिषदों के ऋषि ने सूर्य मंडल में मधुनाड़ी की उपस्थिति का अनुभव किया था और सूर्य को मधु विद्या के केंद्र में प्रतिष्ठित किया था। यह उनका अनुभवसिद्ध प्राणवादी विज्ञान था। सूर्य-सहचारिणी फगुनहटा हवाएँ भी सोम, रस और प्राण को वाहित करती हैं और जीवों तथा वनस्पति को वितरित करती हैं। कहते हैं कि जीवों में इसी समय पुराना खून नया होता है। वनस्पतियाँ 'पर्णहरित' (क्लोरोफिल) के माध्यम से और सूर्य किरणों की सहायता से अपनी शिराओं में उस जीवन रस का संचार करती हैं जो नए टूसे, नई कोंपलें, नए फूल और नए फल पैदा करता है। इस प्रकार सूर्य ही सृष्टि को सांवत्सरिक नया जीवन देता है। यह सूर्य न रहे तो प्राण संपुटित हो जाए, धरित्री जीर्ण पीत हो जाए। सृष्टि कोढ़ग्रस्त हो जाए और वसुंधरा मृतवत्सा हो जाए। यह सूर्य में निहित सोमात्मक शक्ति ही है, जिसके प्रसाद से जगत् की वृद्धि और उसका पोषण चल रहा है। जीवन मिठास से भरपूर है। पहले सृष्टि क्या थी? सर्वत्र वाष्प था, तुषार था, जल-ही-जल था। आदिम शीत के तिमिर-धुंध का भेदन कर सूर्य की रश्मियों ने ही मृत्तिका और जल के भीतर काई या शैवाल के रूप में जीवन को प्रथम-प्रथम जन्म दिया था। आज से साठ कोटि वर्ष पूर्व की यह कथा है। काई और शैवाल से ही कंटक पर्ण (फर्न) का जन्म हुआ, फिर पत्तेदार वनस्पतियाँ आईं। यह सूर्य की तपस्या और पौरुष का फल था। आज से दस कोटि वर्ष पूर्व सूर्य ने प्राण-विरोधी जड़िमा से जूझकर इस धरती पर प्रथम बार 'ओजिओं स्पर्म' के रूप में धरती पर प्रथम पुष्प प्रस्फुटित कर डाला। यह पहली सपुष्प वनस्पति थी। श्वेताभ सवर्णी फूलों से धरती भर गई। सूर्य उनमें रंग-पर-रंग निखारता गया और आज वैज्ञानिकों के कथनानुसार, पच्चीस हजार सपुष्प वनस्पतियों से हमारी धरती आच्छादित है। इस वसुधा को नंदन कानन बनाने का और इस ऋतु को कुसुमाकर बनाने का श्रेय तो सूर्य को ही है। वसुधा की सारी श्री और शोभा का पिता सूर्य ही है। वही रूप, रस और प्राण का दाता है। अतः इस अर्थ में वही 'सवितृ' (प्रसवकर्ता) है, जिसके प्रकाश में 'रूप' है और ऊष्मा में 'मधु' है। यह फागुन मास, ये चैत-बैसाख यानी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैदिक 'मधु माधव' और यह वसंत ऋतु सूर्य के द्वारा लिखी जानेवाली वार्षिक कविता है। सूर्य ही आदि कवि है और उसीके दैनिक काव्य उषा और संध्या के लिए कवि ने कहा है—'प्रश्यदेवरूय काव्य न ममार न जीर्यति'।

चढ़ते फागुन बेटी की लग्न तय होती है, चढ़ते फागुन बेटे का विवाह तय होता है, चढ़ते फागुन वधू के द्विरागमन का मुहूर्त निश्चित होता है, चढ़ते फागुन देवर-भौजाई के मन में द्वापर लीला का आवेश आने लगता है, चढ़ते फागुन बूढ़े-जवान सबके मन में वंशी और मादल बजने लगते हैं, फ़सल के दाने पकने लगते हैं, आदमी तो आदमी, चिड़िया, घास-पात तक के दिन लौटते हैं, दिवस साफ़-सुथरा हो जाता है। रातें परिश्रमलब्ध विश्रांति से सुखकर हो जाती हैं, व्यष्टि-समष्टि सृष्टि के बाह्य और आभ्यंतर में फागुन का सूर्य अपनी लोकोत्तर अशब्द कविता को जगा जाता है। ऐसे में अपने को कुंठित और अवगुंठित करके रखना, अपने मानस कपाट जैसे बंद करके रखना आत्मा का सबसे बड़ा तिरस्कार होता है। इस समय तो सारी सृष्टि ही प्रसन्न-उत्फुल्ल रहती है। शायद एक जीव को छोड़कर, जिसे सुगंधियों के जंगल में अपने शिकार की देह-गंध की दिशा निर्धारित करने में बड़ी कठिनाई होती है और वह जीव है आमिषलोभी श्वान। मनुष्य से सौ गुनी घ्राण-शक्ति का दान उसे विधाता ने दिया है और इस 'नासिका-चक्षु' जीव के लिए यह वसंत काल अति विकलता का काल है और वह हमारी तरह सूर्य-स्तवन न करके वसंत सहचर फागुन-सूर्य और फ़गुनहटा हवाओं को भौंकते हुए दस गालियाँ दे, तो क्या आश्चर्य है! पर हम तो आदमी हैं। अतः हम फागुन के सूर्य और सहचारी हवाओं के प्रति अपना मुक्त कंठ प्रदर्शन करेंगे ही।

□

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति

"'जब तक मानसिक, बौद्धिक और सामाजिक जीवन की जकड़बंदी, अवरोध के प्रति ऐसी आसक्ति और खुलेपन का अभाव समाप्त नहीं होते हैं, तब तक भोजपुरी गाँव श्रीहीन ही रहेंगे। घर में छल्ली लगी रहेगी, बखार में अन्न भरा रहेगा, देवीजी धन के संरक्षक यक्ष की तरह मोटे-मोटे गहनों से लदी रहेंगी तो भी सुख, श्री, सुरुचि, सौंदर्यबोध, समरसता और सर्वोदय का प्रवेश इस जकड़बंदी में नहीं हो सकता; क्योंकि रोग आर्थिक नहीं, मानसिक और बौद्धिक है। क्या कारण है कि इस क्षेत्र के एक सर्वहारा चमार और हजार मन गल्ले पैदा करनेवाले ब्राह्मण में रुचि और संस्कार के स्तर पर गुण-भेद नहीं, परिमाण-भेद चाहे जो हो?'''भोजपुरी संस्कृति का प्रतीक गोबर नहीं, लहलहाता खेत है।'''

मैं ब्रह्मपुत्र की धार के समक्ष खड़ा हूँ। पीछे है गौहाटी नगर, सामने है महानद का विस्तृत पाट, बाएँ है नीलांचल का शिखर जिसके शीश पर महाविद्या अपने भुवनेश्वरी रूप में स्थित है और दाईं ओर भी धनुष का आकार लेती हुई ब्रह्मपुत्र की ही धारा है; जिसके मध्य वे नील-हरित द्वीपपुंज हैं, जिनकी रचना कँकरीली मिट्टी और कठोर चट्टानों के माध्यम से प्रकृति ने स्वतंत्र रूप से की है और वे नदी-द्वीप या 'दियारा' नहीं हैं। यों अभ्यासवश ब्रह्मपुत्र को भी हम लोग 'नदी' ही कहते हैं; परंतु परंपरा से सिंधु और शोणभद्र की तरह ब्रह्मपुत्र भी पुंलिंग नदी है, अर्थात् 'महानद' है। कभी-कभी इसीसे मैं तो ब्रह्मपुत्र को 'महाबाहु ब्रह्मपुत्र' कहकर पुकारता हूँ। इसका दूसरा नाम 'लौहित्य' भी है। संभवतः इसी नाम के कारण उत्तर भारत में एक समय जनश्रुति प्रचलित थी कि ब्रह्मपुत्र का पानी लाल होता है। परंतु गौहाटी या तेजपुर के ब्रह्मपुत्र का पानी वैसा ही है जैसा अन्य नदियों का पानी। देखने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में नीलाभ-श्वेत, पर वास्तव में वर्णहीन। जल निराकार निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप है। इसका वास्तव में कोई आकार, कोई वर्ण नहीं। आज मैं सवेरे-सवेरे इस ब्रह्मपुत्र की धार के समक्ष अकेले-अकेले खड़ा हूँ। मैं कुहरे को काटकर अपने को स्वतः उद्घाटित करते हुए प्रभात का दर्शन करना चाहता हूँ। शहर का प्रातः बड़ा ही बीभत्स और कुरुचिपूर्ण होता है, वेश्या की अंतर्वासना की तरह। हाँ, शहर की शाम अवश्य ही रंगीन और मोहक होती है; जवाकुसुम जैसी टहक और वारांगना जैसी रंजिता, स्निग्ध, रेशमी संध्या! पर गाँव की शाम थकी-माँदी होती है। गाँव का प्रातः ही सुंदर होता है, एकदम किलकते बच्चे की तरह! वहाँ रोशनी आशीर्वाद की तरह बरसती है, हवा प्रार्थना की तरह धीरे-धीरे मंद पग चलती है और पंख-पखेरू राम नाम कहते हैं। वह कुछ और ही छवि है। इसीसे कहा गया है कि गाँव का प्रातः सुंदर होता है और शहर की संध्या। यही कारण है कि मैं गौहाटी नगर के बासी दुर्गंधमुखी चेहरे से दूर भागकर ब्रह्मपुत्र की धार के समक्ष खड़ा हूँ और आलोक तथा पुलक के मध्य दिवस का शनैः-शनैः उद्घाटन देख रहा हूँ। अब किरणों के तीर-धनुष खेलता नन्हा लाल प्रभात सम्मुख उपस्थित हो रहा है। ब्रह्मपुत्र की लहरें भी जग गई हैं। कभी-कभी तिर्यक् रेखा में उछलते त्रिशूलों की तरह तो कभी चक्कर काटते, आवर्त्त बनाते किसी क्रुद्ध श्वापद की तरह ये लहरें वेग से धावमान हैं। जैसे-जैसे हवा तेज होती जाएगी, इनके स्वर में भी गुर्राहट का आवेश आता जाएगा। यों अपनी स्वाभाविक अवस्था में ब्रह्मपुत्र कोई धीर-गंभीर-ललित प्रवाह नहीं। यह सदैव महाकाय जल-श्वापद की तरह थूथुन उठाकर गुर्राते हुए चलता है। आजकल सवेरे काफी ठंडक रहती है। मैं मफलर-कनटोप से सुसज्जित हूँ और दोनों हाथों को पॉकेट में डालकर रह-रहकर सारे शरीर में तनाव देता हूँ और दम भरकर उसे लोहा बना देने की चेष्टा करता हूँ। आसमान में धीरे-धीरे कुहरा छँट रहा है। पंख-पखेरू, पेड़-पालौ सभी जग गए हैं और प्रातः की 'भासा' या भास्वरता में सभी अपने-अपने अस्तित्व का पुनराविष्कार कर रहे हैं; समूची सृष्टि ही अपने को अभिव्यक्त कर रही है। न केवल ऊपर की बरसती भास्वरता से ही, बल्कि मुझे तो लगता है कि भीतर की किसी 'भासा' या अंतःस्थित चैतन्य-बिंदु के किरण-प्रस्तार से, जो हमारी सत्ता के रोम-रोम को वेधकर हमें जाग्रत और सजग कर रहा है, हम आसपास के जगत् का और अपना प्रत्यभिज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। यह प्रत्यभिज्ञान निद्रा और प्रमाद के मध्य अवचेतन के गहरे तम में लुप्त हो गया था। इस अंतर्निहित 'भासा' के माध्यम से ही हम चेतना के स्तर पर इस प्रभात का, आसपास की सारी सृष्टि का, नदी की झलमल धार तथा गुर्राते स्वर का और अपनी दर्शक सत्ता का भी, सचेत उद्घाटन अनुभूत कर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रहे हैं। यह 'भासा' हमारे-तुम्हारे-उनके और उसके अर्थात् सभी के भीतर स्थित है। यह हममें से प्रत्येक में अलग-अलग स्थित है, साथ ही देश-काल के मध्य विकासमान हमारे समूह में भी स्थित है। व्यक्ति में यह 'भासा' आत्मसत्ता की आधारभूमि है और समूह में 'सामूहिक प्रज्ञा' की, जिसका स्थूल रूपांतर 'सभ्यता' और 'संस्कृति' की संज्ञाओं से पुकारा जाता है। यह 'भासा' हमारे भीतर अभिव्यक्त होने के लिए निरंतर विकल रहती है। यह एक अत्यंत बेचैन किरण है, जो अविद्या में अवरुद्ध होकर निरंतर छटपटाती रहती है कि बाहर निकलकर यह अपनी कटु-मधु भूमिका ग्रहण करे। हमारी देह तो इसके उद्घाटन का माध्यम-भर है। पैगंबर कहता है—'मैं तो एक छिपाया गया, गड़ा हुआ रतन हूँ। पर मेरे भीतर की बेचैन किरणों ने आखिर मुझे जाहिर ही कर दिया।' और विद्वान् 'रबी' इसकी व्याख्या करते हैं कि ये किरणें और कुछ नहीं, एक 'इलाही' सत्ता की प्रकाश-कन्याएँ हैं। ऊपर से सृष्टि को उद्घाटित करती हुई प्रातःकिरण और भीतर से आत्मचैतन्य को जाग्रत कर 'स्व' को उद्घाटित करती हुई अंतर की 'भासा'—दोनों एक ही प्रकाशमय सत्ता के क्रमशः स्थूल अर्थात् चाक्षुष और सूक्ष्म अर्थात् चिन्मय रूपांतर हैं। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'—यह महावाक्य मुझे स्मरण हो आता है। मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि कुछ क्षण पूर्व कुहासे में अंतर्धान पर अब स्पष्टतः उद्घाटित टीले-ढूह और तालकुंज, नारिकेल एवं सुपारी के वन, नदी की झलमल भुजाओं के कटाव-घुमाव और पेशियाँ; जागते खेत, जागता किनारा और इस किनारे का प्रशस्त बालुकामय ललाट और उसके ऊपर उस पार कगार पर पीली सरसों का आदिगंत मनोरम राजसी मुकुट; और इन सारे अद्भुत दृश्यखंडों पर अविराम झरती हुई रोशनी। यह सब देखकर मेरा मन अत्यंत पुलकित हो उठता है। मै भी हाथ बढ़ाकर अँजुरी-भर प्रकाश की मधुकरी ग्रहण करता हूँ—ठीक उसी उल्लास से, जिससे कि एक भिखारी किसी उदार दाता के हाथ से पाव-भर गरम जलेबी का दोना राजसूय यज्ञ मानकर समेट लेता है। दिवस का उदार महाप्रभु मुझे भी अँजुरी-भर धूप देता गया है। अब मैं इसे दिन-भर मुन्ने, पप्पू, बेबी और बंधु-बांधवों में शाम तक बाँटता फिरूँगा। इस परम पावन अनुभव का अकेले-अकेले भोग करना बहुत बड़ी चोरी होगी। मैं इसे दिन-भर हास-रुदन, हँसी-मजाक के मध्य वितरण करता रहूँगा। प्रभु का दान है, जितना ही बाँटें उतना ही स्वादिष्ट होगा।

अचानक मेरा ध्यान दूसरी ओर खिंच जाता है। एक पाल उड़ाती नौका तीर वेग से सामने से निकल जाती है और उसके साथ-साथ मुक्त कंठ से गाए गान की एक टुकड़ी, एक पंक्ति! वह पंक्ति नौका के साथ-साथ दूर से दूरतर होती हुई

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अपसारित हो जाती है और मैं सिर्फ वही पंक्ति और वह भी शायद ठीक से नहीं, सुन पाता हूँ—'मैनामती नदी पारे रे मोर मधुमाँटी गाँव, रे मधुमाँटी गाँव!' ग्वालपारा का भटियाली सुर और किसी मैनामती नदी का स्मरण, जिसके उस पार कोई 'मधुमाँटी' नामक गाँव बसा है। इतना समाचार तो वह पाल उड़ाती नौका दे गई और 'शेष समाचार'? शेष समाचार की संरचना मेरे अंदर की 'भासा' अर्थात् मेरी नीलकंठी कल्पना भीतर-ही-भीतर कर रही है। एक मैनामती नदी असम में है। एक मैनामती नदी बँगलादेश में भी है; पर यह कौन-सी मैनामती है? कहीं भी हो, इससे क्या मतलब? असल बात है उस तट पर बसा हुआ मधुमाँटी गाँव, जिसके अंदर कोई शायद मधुमती नाम की कन्या है और उसकी स्मृति से जड़ित वेदना ने ही अंतर की 'भासा' का स्पर्श पाकर छंद का रूप धारण कर लिया है और कंठ से एक गान फूट निकला है। सर्द हवा, नदी की धार और कुहासे के बीच वह गान अभिव्यक्त होकर प्रातःकिरण को और मेरे मन को अपनी वेदना से रँगता हुआ अभी-अभी निकल गया है। मैं चिंता करता हूँ, व्यथा का तीर मुझे क्यों वेध गया! मेरा जन्म गंगा के तट पर हुआ है। मैं जीविका की खोज में महादानी, महाबाहु ब्रह्मपुत्र की शरण में आया हूँ। तो, मेरा मैनामती नदी, मधुमाँटी गाँव और मधुमती कन्या से क्या संबंध है? मेरे मन का कोई कोमल भाव-संस्कार क्यों इस पंक्ति से विद्ध होकर छटपटा उठा है? मैं चिंता करने लगता हूँ। इतिहास में नहीं, भूगोल में नहीं, किसी भी देश-काल में नहीं, कहीं भी तो उस मधुमती कन्या से मेरी जान-पहचान नहीं ज्ञात होती। तब भी मेरी सारी भावसत्ता क्यों व्यथा के रंग से आरक्त हो उठी है? मैं चिंतित हो जाता हूँ। धीरे-धीरे मैं अनुभव करता हूँ कि इतिहास-भूगोल से परे, देशातीत-कालातीत एक जगत् है, 'रस' और स्थायी भावों का जगत्, जिसमें हम सब समवयस्क हैं, हम सब समव्यथी हैं और हम सब मन की सारी संभावित भूमिकाएँ स्वयं भोगते हैं—राम-दुष्यंत-युधिष्ठिर आदि संज्ञाओं के विविध साज पहनकर। इसी जगत् में एक मैनामती नदी बहती है, जिसके उस पार कोई मधुमाँटी गाँव है और उसमें कोई मधुमती कन्या है जिससे मेरी जन्म-जन्मांतर की जान-पहचान है। और कोई भी 'रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्...' मुझे उस जान-पहचान का स्मरण या प्रत्यभिज्ञान करा जाता है। यह तीर वेग से जाती हुई पालवाली नाव मुझे उस जगत् की डाक अभी-अभी थमा गई है। अचानक वह एक पंक्ति—'मैनामती नदी पारे रे मोर मधुमाँटी गाँव' मेरे मन की अनामिका पर खोई अँगूठी की तरह स्थित हो गई है और व्यथा का नील नग झलमला उठा है। लगता है कि इससे मेरे अंदर की स्थित 'भासा' भी विकल हो उठी है और सजल नयन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वाष्प-कंठ वह 'भासा', वह कल्पना, भीतर-भीतर एक पत्र लिख रही है—'ओ कन्या, धीरज धरो। आ रहा हूँ अगले जन्म में'''यह जन्म इसके पूर्व का जन्मांतर प्रवाह उस महा अनुभव की तैयारी है, जिसकी प्रतीक्षा हम और तुम कर रहे हैं। अतः धीरज धरो कुछ काल। मैं शीघ्र ही लौट रहा हूँ।' मुझे लगता है कि उस कालातीत-देशातीत जगत् में पल्ली-प्राण के प्रवाह रूप मैनामती की झिरझिर धार में वह कन्या उतरकर स्नान कर रही है और भीगे वस्त्र, तट की ओर लौटती हुई मन-ही-मन मेरे इस संदेश का मनन कर रही है।

तभी मेरा 'मेघदूत' थम जाता है। पर मैं देखता हूँ, गौहाटी रेलवे ब्रिज अर्थात् 'सराई घाट पुल' से होकर भोर की कोई गाड़ी आ रही है। शायद धुबुड़ी पैसेंजर है, ग्वालपारा और कामरूप की वह स्थानीय ट्रेन। संभवतः उसी जनपद से आ रही है जिस जनपद की ओर वह पाल उड़ाती नौका अभी-अभी ब्रह्मपुत्र की भुजाओं पर झूलती हुई निकल गई है। एक समय था कि ब्रह्मपुत्र का नौका-व्यापार बहुत चालू था। देश के विभाजन के बाद यह व्यापार छिन्न-भिन्न हो गया। फिर नए स्थल मार्गों के विकास एवं यातायात की नई सुविधाओं के कारण भी नौका द्वारा कारोबार करने की आवश्यकता जाती रही। तब ब्रह्मपुत्र घाट का महत्त्व रह गया सिर्फ आर-पार के खेवे के लिए। और यह महत्त्व भी १९६२ में ब्रह्मपुत्र के वक्ष पर सुदृढ़ सेतु का निर्माण हो जाने पर समाप्त हो गया। अब इक्के-दुक्के कोई फुट्टैल 'बोहित' नौका जाती हुई दिखती है। तट पर मछुआरों की कुछ डोंगियाँ अवश्य बँधी रहती हैं। पर एक समय था कि यह गौहाटी का घाट अर्थात् पांडुघाट बहुत चलता घाट था और इसके अधिकांश भाग का स्वामित्व गाजीपुर के एक कर्मवीर आभीर पुत्र के हाथों था, जिसने खाली हाथ जीवन-यात्रा आरंभ की थी; परंतु साहस, ईमानदारी और परिश्रम के बल पर लक्षाधीश बन बैठा। आज भी यहाँ के किसी बूढ़े मल्लाह से सोमेश्वर चौधरी की कहानी सुनी जा सकती है। भोजपुर के कितनों की आत्मा में चाहे वे जिस जाति के हों, ईमानदारी का अग्निबीज छिपा है, परिश्रम की 'भासा' छिपी है। जब वे अपने गाँव में रहते हैं तो यह अग्निबीज विधि-निषेधों, सड़ी परंपराओं और परस्पर वर्ण-द्वेष की हत्या-कोठरी में कैद रहता है; परंतु जब वे बाहर जाते हैं तो यह अचानक उनका सही चेहरा, उनका वास्तविक चरित्र उद्घाटित कर देता है। ये मॉरीशस, ट्रिनीडाड, फिजी या जहाँ कहीं भी अंधकार के हृदय में ठेले गए, वहीं पर अपने अग्निबीज को परम प्रकाश के साथ अभिव्यक्त करने लगे। इनका रास्ता सदैव परिश्रम का रास्ता रहा, शोषण-चोरबाजारी और झाँसापट्टी का नहीं। इनके परिश्रम की गाथा बंगाल के जलपाईगुड़ी-मालदह के निर्जन दियारों से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लेकर जिन्हें इन्होंने जंगल काटकर साफ किया था, फिजी-मॉरीशस की चीनी मिलों और लहलहाते शस्य के खेतों में व्यक्त हो रही है। परंतु एक अजीब-सी बात है कि वही किसान जब अपने गाजीपुर-बलिया-वाराणसी के किसी दरिद्र ग्राम में था तो धरती का सबसे दीन और निकृष्ट जीव था। तब उसके मन में पाप का निवास था, उसके ललाट पर दुर्भाग्य का टीका था और वह अपने मनुष्य होने के अनुभव से ही वंचित था। इसका आंशिक कारण गरीबी तथा शोषण-परंपरा हो सकती है। पर इसका संपूर्ण कारण नहीं। यह ट्रेजडी आर्थिक से ज्यादा बौद्धिक और मानसिक है। छोटी जातियों की बात छोड़ दें। खाने-पीने में समर्थ अपेक्षाकृत समृद्ध जातियाँ—सरयूपारीण, भूमिहार, राजपूत—भी संस्कारहीन, संकीर्ण और कुटिल हो गई हैं। उनमें किसी गरिमा या आत्मिक-नैतिक समृद्धि का अभाव पाया जाता है। ऐसा क्यों है? क्यों वही व्यक्ति जब बाहर जाता है तो और कुछ हो जाता है और भीतर आने पर वैसा कुछ रहता है कि देखकर क्षोभ होता है। मेरी समझ से इसका कारण है बौद्धिक, मानसिक और सामाजिक जकड़बंदी, खुलेपन का अभाव, अपने को अपने 'अहं' की कोटर में साँप की तरह रुद्ध रखने की प्रवृत्ति—यह 'अहं' चाहे व्यक्तिगत हो या जातीय। परस्पर का सम्मान करना, अपने अहं को काटकर खंड-खंड करके प्रसाद की तरह परस्पर में वितरण कर देना, परस्पर के प्रति समव्यथी होना इन भोजपुरियों में, इन गाँवों में वास करते समय नहीं पाया जाता है। कोई व्यक्तिगत 'अहं' और 'स्वार्थ' की कोटर को काटकर मुक्त होता भी है तो जातीय स्वार्थ और जातीय 'अहं' की कोटर में पुनः बंद जो जाता है। गाँव में इनके बीच रहकर बड़ी घुटन होती है। कहीं भी खुलापन या मुक्त वायु का अनुभव नहीं होता। इनके बीच दो मास ग्रीष्मावकाश बिताना यंत्रणामय हो उठता है। और तो और, इनके बसने का तरीका भी इनके जकड़बंद, मुक्तिहीन, अवरुद्ध मन का प्रतीक है। अरे बाबा, आखिर यह गाँव है, शहर नहीं। लंबा-चौड़ा सीवान-मथार है। क्यों नहीं काफी जमीन लेकर अलग-अलग खुले तौर पर बसते हो। मकान के आसपास फूल-पत्ती, बिरवाई-केनवाई के लिए काफी जमीन लेकर। परंतु नहीं, ये 'डीह' नहीं छोड़ेंगे। एक-में-एक भेड़ियाधँसान की तरह नरक-तुल्य बस्ती में ही घर बनाएँगे। और सविनय निवेदन करो तो 'ला लाठी, तेरे बाप का रास्ता है कि रोकेगा!' यह जकड़बंदी इनकी एक विशेष मनुस्मृति द्वारा भी समर्थित है। मैंने पूर्वी उत्तर प्रदेश के भी देहातों में देखा है, प्रायः वर-वधू के विवाह के समय अग्नि के चारों ओर सात बार परिक्रमा भी नहीं कराई जाती है, जिसका उल्लेख हमारे प्रत्येक महाकाव्य में हुआ है और जो भारत में सर्वत्र प्रचलित है। परदा प्रथा के प्रति वफादारी के कारण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वर-वधू थसक्कर बैठे रहते हैं और एक वस्त्र-खंड को उनका प्रतिनिधि बनाकर सात बार घुमवा दिया जाता है। शहरों में यह नियम टूट रहा है। पर गाँवों का पुरोहित वर्ग इस प्रकार की अनेक विकृतियों और कुसंस्कारों की रक्षा प्राणपण से कर रहा है।

जब तक मानसिक, बौद्धिक और सामाजिक जीवन की जकड़बंदी, अवरोध के प्रति ऐसी आसक्ति और खुलेपन का अभाव समाप्त नहीं होते हैं, तब तक भोजपुरी गाँव श्रीहीन ही रहेंगे। घर में छल्ली लगी रहेगी, बखार में अन्न भरा रहेगा, देवीजी धन के संरक्षक यक्ष की तरह मोटे-मोटे गहनों से लदी रहेंगी तो भी सुख, श्री, सुरुचि, सौंदर्यबोध, समरसता और सर्वोदय का प्रवेश इस जकड़बंदी में नहीं हो सकता; क्योंकि रोग आर्थिक नहीं, मानसिक और बौद्धिक है। क्या कारण है कि इस क्षेत्र के एक सर्वहारा चमार और हजार मन गल्ले पैदा करनेवाले ब्राह्मण में रुचि और संस्कार के स्तर पर गुण-भेद नहीं, परिमाण-भेद चाहे जो हो? क्या कारण है कि बनारस और कटिहार के बीच रेलयात्रा के अवसर पर भारत के अन्य क्षेत्रों की तुलना में रूढ़ता और अश्लीलतर कथन-भंगिमा सुनने को मिलती है? मैं भोजपुरीभाषी साहित्यकार हूँ और मुझे लगता है कि वह हमारी सांस्कृतिक गिरावट है। कुरुचि को संप्राणता का सबूत मैं नहीं मानता, और कोई मानता हो तो माने। भोजपुरी संस्कृति का प्रतीक गोबर नहीं, लहलहाता खेत है।

मैं यह सब सोच रहा हूँ, उधर प्रतापी दिवस का आदिगंत अभियान जोरों से चल रहा है। सारा गगन मंडल किरणों से आक्रांत है। अब दिवस राजपक्षी गरुड़ की तरह अपने सोने के चमाचम झलमल पंखों से भूषित होकर पूरे तौर पर और पूरी शान से डैने खोलकर उद्घाटित हो गया है। किरणें चारों ओर धावमान हैं। तबीयत तो होती है कि इनमें किसी एक का 'स्कर्ट' या पल्लू पकड़कर पूछूँ, 'अच्छा, तुम लोग तो गौहाटी से चलकर उत्तर प्रदेश आठ-नौ मिनट में पहुँच जाती हो। पर यह तो बताओ कि छपरा से ऊपर-ऊपर सीवान-भटनी होती हुई लखनऊ-दिल्ली निकल जाती हो या कभी छपरा-वाराणसी की ब्रांच लाइन पकड़कर तमसाच्छन्न गाजीपुर के खेतों और गाँवों में; वहाँ के निवासियों के अविद्या-आक्रांत मन में, उनके 'स्व' की कोटर में भी प्रवेश करती हो? हमारे बलिया-गाजीपुर के हृदय में उतरकर तमस का दुर्ग-भेदन करो!' पर डर लगता है कि आलोक की ये दुर्दांत छोकरियाँ मेरी कातरता और विनय को छेड़खानी न समझ बैठें और कहीं एकाध तमाचा न लगा दें। अतः चुप ही रह जाता हूँ और उत्साहहीन पगों से शहर की सड़क पर आ जाता हूँ। फिर जल्दी-जल्दी शांतिपुर मुहल्ले में प्रवेश कर जाता हूँ। मेरे आतिथेय और उनकी श्रीमती प्रातराश के साथ मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। □

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ददरी घाट पर अपराजित सूर्य

"'सारा आदर्शवाद विकलांग आदर्शवाद है, जिसे हमारा नवशिक्षित बुद्धिजीवी प्रवंचना का हथियार बनाकर चल रहा है'''पश्चिम के किसी गुरु ने घोषित कर दिया—'ईश्वर मर गया। अब उससे हमारा क्या लेना-देना?' तो नवशिक्षित हिंदुस्तानी एक कदम आगे जाकर प्रगतिशील भाषा बोल रहा है—'भारत माता मर गई। इसके शव को संग्रहालय की अलमारी में रख दो। हम इसपर शोध करके आनंद प्राप्त करेंगे।'''अबुद्धिजीवी ही सूर्य की असली लड़ाई लड़ेगा; क्योंकि बुद्धि को यह व्यक्तिगत प्रोन्नति की सीढ़ी नहीं मानता, बुद्धि को 'पेशा' या 'कैरिअर' नहीं मानता। इन्हीं अबुद्धिजीवियों के एक नेता महात्मा गांधी ने कहा था, 'मैं कहीं भी हताश नहीं होता, केवल एक जगह को छोड़कर। मैं भारतीय बुद्धिजीवी की कायरता को देखकर हताश हो जाता हूँ।'''

इस वर्ष शिशिर बड़ा दाहक रहा। ठंड में भी दाहिका शक्ति होती है और प्राणों में जड़िमा का संचार कर देती है। हेमंत आते ही पत्ते दग्धप्राण होकर पीले पड़ जाते हैं और शिशिर में झड़ जाते हैं। ठिठुरते प्राण गतिहीन और संवेदनारहित होते जाते हैं। गति के मूल में ही हैं प्राणों की संवेदना। यदि संवेदना आवेग न भरे तो मात्र बुद्धि के हुकुम से इंद्रियाँ हिल-डुल थोड़े सकती हैं। जो भाव और उसके पूर्वरूप संवेदना को निरस्त करके केवल बुद्धि की बात करते हैं, वे आत्मप्रवंचक हैं। यह जीवन के प्रति षड्यंत्र है। प्राण को ही आज जीवनी शक्ति या 'जीवन' कहा जाता है और जीवन की एक मुख्य कला है संवेदना। इसके अवदमन का अर्थ है जीवन का अवदमन। संवेदना सहज प्राणधर्म है। उपेक्षित, अवदमित प्राण जिस सरस्वती का मात्र बुद्धि के भरोसे अंकन करते हैं, उसकी शक्ल धूमावती या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

छिन्नमस्ता जैसी हो जाती है। अतः संवेदना चाहिए अर्थात् सहज प्राणधर्म चाहिए और इसके लिए चाहिए अग्नि की ऊष्मा और मधुमय सूर्य। अग्नि तो घर-परिवार का, कुटुंब का सदस्य है—दीपशिखा में, चूल्हे में, होमकुंड में, वह घर में निवास करता है, अतः अपना कुटुंबी है, बहुत नजदीक है। पर सूर्य आसमान में रहता है, दूर है, अतः ईश्वर है। सूर्य, आकाश की तरह, मेघ की तरह, पवन की तरह दूर रहनेवाला है, अतः देवता है, ईश्वर है। और, जब ईश्वर भी अवतार लेकर अथवा अर्चामूर्ति बनकर उपस्थित होता है तो हिंदुस्तानी मन उससे भी कुटुंबी का नाता जोड़ लेता है; पिता, माँ, सखा, सुहृद् ही नहीं, बेटा तक मान लेता है। बेटा मान लेने पर सवेरे माखन-मिसरी का बाल-भोग चाहिए और रात को शयन पूर्व नन्ही रजाई ओढ़ाते हैं कि कहीं ठंड न लग जाए! यह सब हिंदुस्तानी मन के रहस्य हैं। इन्हें तर्क आश्रित नवशिक्षित बुद्धि नहीं समझ सकती। नहीं समझ सकती, अतः मखौल उड़ाती है इन बातों का। 'कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी' का अर्थ बड़ा ही गंभीर है। इसके पीछे 'प्रकृति, ईश्वर और मनुष्य' के अविभाज्य 'त्रिक' का सूत्र है। नवशिक्षा में कहीं खोखलापन है जरूर। इसने पहले मनुष्य को प्रकृति और ईश्वर से काटकर अकेला कर दिया है। फिर मनुष्य-से-मनुष्य को काटकर प्रत्येक व्यक्ति को शेष सृष्टि से पराया कर डाला। 'हम दो हमारे दो' या फिर 'एक-दो-तीन', यही नवशिक्षा का पारिवारिक सूत्र है। इसके बाहर जो है, चाहे नजदीक हो या न्यूजीलैंड-कनाडा-ऑस्ट्रेलिया का हो, सभी गैर हैं, सभी पराए हैं। इस प्रकार मनुष्य स्वयं आरोपित परायापन ढो रहा है। ऐसे नवशिक्षित से पड़ोस, समाज और राष्ट्र की जीवंत अनुभूति की अपेक्षा कैसे की जा सकती है? इनकी बौद्धिक अवधारणा को वह बार-बार भले ही बके, पर उसका मन अनुभव करने में असमर्थ है। अतः उनका सारा आदर्शवाद विकलांग आदर्शवाद है, जिसे वह प्रवंचना का हथियार बनाकर चल रहा है। पुराना ऋषि मन राष्ट्र की जीवंत सत्ता का विश्वासी था। यास्क ने निरुक्त में यह समझाते हुए कि ये इंद्र, वरुण, यम, सूर्य आदि अनेक देवता भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक कैसे हैं, कहा था—'नरराष्ट्रमिव', अर्थात् जैसे सारे नर भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक ही राष्ट्र की आत्मा को अभिव्यक्त करते हैं, वैसे ही। पश्चिम के किसी गुरु ने घोषित कर दिया—'ईश्वर मर गया। अब उससे हमारा क्या लेना-देना?' तो नवशिक्षित हिंदुस्तानी एक कदम आगे जाकर प्रगतिशील भाषा बोल रहा है—'भारत माता मर गई। इसके शव को संग्रहालय की अलमारी में रख दो। हम इसपर शोध करके आनंद प्राप्त करेंगे।' यानी जीवंत देश-मातृका इनके लिए भक्ति नहीं, मात्र शोध की वस्तु रह गई है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मकर संक्रांति तो अभी कुछ दिन पूर्व आई थी। आज तो मौनी अमावस्या है। उत्तरायण सूर्य के साथ ही देवताओं का षट्मासिक दिवस प्रारंभ हो जाना चाहिए और यह कालखंड असुरों की रात्रि का काल है। पर लगता है कि इस वर्ष पंद्रह दिन बीतने के बावजूद सूर्य के लिए इस अयन पर दखल पा लेना टेढ़ी खीर हो गया है और असुर अब भी बेदखल नहीं हो पाए हैं। इस शीतलहरी में सूर्य सारा दिन धुंध और तुषार से जूझता है। मात्र घंटे-दो घंटे के लिए ही उसकी वीरगाथा धूप बनकर चमक पाती है। प्रकृति की हर एक लीला ही 'देवस्य काव्यम्' है, देवताओं की कविता है और उसमें मध्याह्न सूर्य की तेजस्वी धूप तो उसकी वीरगाथा यानी महाकाव्य है। उषा के लिए 'देवस्य काव्यम्' की उपमा दी गई है। पर मैं कहता हूँ, इस घोर शीतलहरी में दुर्बल-'मद्धिम' धूप का भी अचानक उद्घाटित हो जाना उससे कहीं अच्छी कविता है। इस घोर शीतलहरी में मैं तो रात-दिन धूप और सूरज के सपने ही देखता रहता हूँ। सूर्य चाहिए, मधुमय सूर्य, जिसकी गरम-गरम किरणों का आस्वादन वैसा ही होगा जैसे उपवास के बाद ताजा गरम रोटी का स्वाद। शिशिर की हाड़ छेदती ठिठुरन में प्राणों की सहज तृषा सूर्य की माँग करती है। सूर्य, जिसकी गरम किरणें सहज संवेदना लौटाती हैं, चेतना लौटाती हैं, गति लौटाती हैं, स्वाद लौटाती हैं। वैसे तो शिशिर में भी ठिठुरते हाथ-पैरों से हम चलते हैं, फिरते हैं, सारा जोगाड़ करते हैं, बलात् ठिठुरती उँगलियों को कर्म-प्रवृत्त करते ही हैं; पर यह सब करने में कुछ स्वाद नहीं मिलता। प्राण की सहज संवेदना से, जिसका स्थूल रूप 'भाव' होता है, जुड़कर ही कर्म स्वादिष्ट होता है। यांत्रिक आज्ञापालन के रूप में अर्पित कर्म जीवन देवता का भोग-प्रसाद नहीं बन पाता है। अतः सूर्य के लिए मन तृषित है। यह सूर्य-तृषा मन में अद्भुत सपने रचती है। मैं कल्पना करता हूँ, ठंडे ध्रुव प्रदेशों में श्वेत ऋक्ष अब भी वैसे ही सोए होंगे जैसे दिवस में तारागण सो जाते हैं। सुनता हूँ, वे ऋक्ष हिम प्रदेशों में छह मास तक सोते रहते हैं और वसंतागम पर हिम-दूर्वा के साथ वे भी जागते हैं। शायद उनकी श्वेतिमा के कारण ही 'ऋक्ष' और 'तारा' पर्यायवाची हो गए। वे पूरे हिम-काल में सुप्त रहते हैं। पर वैसी सुविधा तो मनुष्य के पास नहीं, वह तो अपने दिवस मान के अनुसार जग जाता है और लाख रजाई में दुबका रहे, शिशिर-पीड़ा का अनुभव करना ही पड़ता है। आज तो फिर मौनी अमावस्या है।

यह माघी अमावस्या यानी मौनी अमावस्या मकर संक्रांति की छोटी बहन है। अतः यह भी स्नान-उत्सव है और गरम-गरम खिचड़ी खाने का पर्व है। पुण्य लोभी जन इस दिन मौन रहते हैं। मकर संक्रांति के बाद सूर्य का दखल उत्तरायण पर हो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाता है और यह उस दखल का राज्याभिषेक है, क्योंकि अमावस्या का सूर्य ही प्रचंड माना गया है। परंतु नौ बजने वाले हैं और शिशिर की धुंध अब भी प्रतिवाद कर रही है। अपने तीव्र प्रभामंडल का मुकुट धारण करके राजा सूर्य अब भी अपने को प्रकट नहीं कर पा रहा है। मैं मन-ही-मन सूर्य का चिंतन कर रहा हूँ, मन-ही-मन पवित्र-स्वच्छ दिवसों के सपने देख रहा हूँ, स्वच्छ धूप के सपने देख रहा हूँ, 'सूर्य-हीरकधरा, प्रकृति नीलांबरा' के सपने देख रहा हूँ। सोचने से मन में शिशिर का आतंक कुछ कम हो रहा है। दस इंद्रियों पर शिशिर का कब्जा भले ही हो, मन अब भी अपराजित है। मन में सूर्योदय हो चुका है। यह सूर्य मित्र है, परम बांधव है, परम सुंदर है, रात की उस ताराखचित कुहकी नीलांबरी से कहीं अधिक सुंदर है जो अपनी माया की तमसा द्वारा हमारी दृष्टि का हरण कर लेती है; चाँद से कहीं ज्यादा खूबसूरत है जो चाँदनी रातों में दृष्टि-विभ्रम पैदा कर देता है, एक-एक झाड़ी और ठूँठ दूर से भूत-प्रेत जैसे लगते हैं और पेड़ महाकाय यक्षों का रूप ले लेते हैं, जाने-पहचाने चेहरों पर मायावी 'रामरज' पुत जाती है। यह सूर्य आसमान को कैद से छुड़ाता है, धरती को रात्रि की झूठी लीला से मुक्त कर देता है, फूल-पत्ते, पशु-पक्षी, नदी-पर्वत, सबको सही-सही रूप में उद्घाटित कर देता है, हमारी दृष्टि और हमारा दिवस हमें लौटा देता है, हम एक-दूसरे को भर नजर देख पाते हैं, एक-दूसरे को पहचान पाते हैं। यह सूर्य प्राणों में ऊष्मा और संवेग भरता है, फसल के पकते दानों में मिठास लाता है, दाने-दाने में पुष्टि और स्वाद उतार देता है। यह सूरज जब पूरब में सुबह-सुबह उदित होता है तो लगता है कि किलकता हुआ अपना ही बच्चा है, लोवा-पोवा, नरम-नरम, और अब हमारी गोद में ही उतर आएगा। जब आसमान में यह दिवस-यात्रा करता हुआ घंटे-प्रति घंटे आगे बढ़ता चलता है तो लगता है कि यह भी हमारी कर्म की कठिन राह पर रास्ते का हमदर्द पथिक है, समझदार सतीर्थ्य है, और जब यह संध्या को बिदा होने लगता है तो लगता है कि कोई प्रिय कुटुंबी या अभिन्न मित्र जाते-जाते कह रहा हो, 'घबराना मत। कल ही लौटूँगा!' ऐसा आश्वासन, ऐसा प्रिय वचन कहते हुए बिदा लेनेवाले सूर्य के साथ तो किसीकी तुलना हीं नहीं हो सकती।···ऐसा सब सोच ही रहा था कि अचानक धूप उग आने का आभास होता है, और मैं रजाई फेंककर बाहर आता हूँ। मंद उजास के साथ दुर्बल धूप और पीला-पीला सूर्यबिंब धुंध को फाड़कर दृश्यमान हो रहा है। इतनी देर बाद ही सही। अहोभाग्य, सूर्य-दर्शन तो हुआ। मौनी अमावस्या के दिन प्रात: अरुण को देखते हुए गंगास्नान का विधान है। मैं मन-ही-मन फतवा देता हूँ कि आज दिन-भर के लिए हिंदी भाषा में 'अरुण' माने 'पीला' ही मान लिया जाए। हिंदी में तो आजकल

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

फतवों का मौसम ही चल रहा है। तो एक बार मैं भी इसकी सुविधा ले लूँ। यही सोचते हुए पर्व—स्नान-पर्व की तैयारी करने लगता हूँ।

कहने को तो यह मौनी अमावस्या है। परंतु ठंड के बावजूद रास्ता, घाट सर्वत्र ही कोलाहल गूँज रहा है। जब पर्व ही है तो मौन-मौन क्यों मनाया जाए! विशेषतः अपने कोलाहल-प्रेमी युग में। जब पर्व चालू हुआ था तो हमारे पूर्वज कोलाहल-रस से परिचित नहीं थे। न 'माइक' था, न 'रिकॉर्ड प्लेयर', न 'कैसेट', न 'दूरदर्शन'। इस रस से अपरिचित होने के कारण ही शायद वह मौनप्रिय थे, ध्यान-प्रेमी थे, चिंतन-मनन-निदिध्यासन, योग-जप आदि की क्रीड़ा करने में उन्हें सुख मिलता था। पर हम तो आधुनिक हैं। हमें कोलाहल का रस मिल चुका है और दैनिक जीवन में ही नहीं, अर्थनीति, राजनीति, धर्म और साहित्य, सर्वत्र ही श्रेय और प्रेय का सहज साधन अब कोलाहल ही है। भोजन-पान तक बिना कोलाहल के भीतर करने पर हमें रस नहीं मिलता है। गाजीपुर के ही पड़ोस मऊ में कल्पनाथ भाई तैयार हैं अतिरिक्त शक्ति का दूरदर्शन केंद्र स्थापित करवाकर सूर्यलोक-चंद्रलोक का कोलाहल भी उतार देने के लिए। अहोभाग्य मऊ का, जिसमें कल्पनाथ राय जैसा राजनीति का पहलवान पैदा हुआ और धिक्कार है गाजीपुर को, जो महज शिवपूजन राय जैसे स्वतंत्रता-संग्राम के शहीद पैदा कर रह गया फिसड्डी-का-फिसड्डी ही। सुनता हूँ कि उन्नीसवीं सदी की एक संध्या में नैमिषारण्य के व्यास मंदिर के सम्मुख बैठकर राजनारायण बसु ने साश्रुकंठ प्रार्थना की थी, 'हे भगवान्, 'बँगला' भाषा में भी व्यास जैसा एक महाकवि पैदा कर दो!' और लोग कहते हैं कि इसके फलस्वरूप वहाँ पर रवींद्रनाथ पैदा हुए थे। वैसे ही मैं ददरी घाट की ओर रिक्शा पर सवार होकर जाते हुए, कोलाहल के मध्य, प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि इस अपने जिले में भी लालू-मुलायम-कल्पनाथ जैसे दो-एक राजनीति के पहलवान पैदा करो, जिससे इस जिले का भी कुछ आधुनिक सिंगार-पटार हो जाए और 'पचासी' अर्थात् 'पंचानबे' प्रतिशत के शीश पर भाग्य का छींका टूटकर गिरे।

यही सब ऊलजलूल सोचते-सोचते ददरी घाट आ ही गया। देखा कि यहाँ तो मेला लगा हुआ है। लोकारण्य में दूर से एकाध जाने-पहचाने चेहरे दिखते थे, फिर छिप जाते थे। बच्चे-बूढ़े, माँ-बहनें, प्राचीन-नवीन-अतिनवीन हर तरह के चेहरे। कुछ लोग स्नान कर सिकुड़े हुए, कुछ वीर दर्प में अकड़े हुए, कुछ चाय की दुकानों की ओर या दिशा-विदिशा की ओर लोभातुर दृष्टिवाले, कुछ घाट पर लगी बिसाती की दुकानों की ओर उन्मुख, कुछ भरे जलपात्र के साथ बुदबुदाते हुए, कुछ अस्पष्ट भाषा में हुंकार लगाते हुए, तरह-तरह के लोगों का आना और जाना। एक व्यवस्था-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विहीन स्वच्छंद चहल-पहल। तरह-तरह के स्वरों के बीच भाषा और अर्थ का लोप हो गया था एक अनुगूँज में; गोया मेला न होकर आधुनिक साहित्य का अमूर्त्त अभिनय हो। देहात से लोगों का आना तो अब जारी हुआ है। बारह बजे तक भीड़ बढ़ती ही जाएगी। धन्य हो ददरी घाट! तुम्हारे तट पर महाबली शीतलहरी की सुरसा भी पराजित हो गई। सुबह चाहे जो हालत रही हो, इस समय तो पूरा मेला जुड़ गया है। धूप की उजास भी चटक हो गई है। वातावरण गुलजार और मनसायन है। केवल गाजीपुर के बुद्धिजीवियों के लिए ही शीतलहरी थी। शेष अबुद्धिजीवी समाज तो सुबह से आ-जा रहा होगा। वैसे भी इस हिंदुस्तान में अबुद्धिजीवी अब भी हर मोरचे पर ठीक-ठाक हैं। यह बुद्धिजीवी ही अपनी सिद्धांतबाजी द्वारा हर जगह उन्हें जब-तब बरगला देता है। अन्यथा हिंदुस्तान हर जगह एक अविभाजित हृदय होकर रहता। अंत में यह अबुद्धिजीवी ही सूर्य की असली लड़ाई लड़ेगा; क्योंकि बुद्धि को यह व्यक्तिगत प्रोन्नति की सीढ़ी नहीं मानता, बुद्धि को 'पेशा' या 'कैरिअर' नहीं मानता। इन्हीं अबुद्धिजीवियों के एक नेता महात्मा गांधी ने कहा था, 'मैं कहीं भी हताश नहीं होता, केवल एक जगह को छोड़कर। मैं भारतीय बुद्धिजीवी की कायरता को देखकर हताश हो जाता हूँ।' यह घाट पर उतर रहे या जल से बाहर आते बच्चों, बूढ़ों, माँ-बहनों का अटूट जन-प्रवाह मुझे धुंध के खिलाफ लड़ती हुई सूर्य की अपराजित सेना का प्रतीक लगा। उनकी श्रद्धा और अंधविश्वास में ही सूर्य की जय के बीज छिपे हैं; जबकि बुद्धिजीवी के अंध-'अविश्वास' और अश्रद्धा की अप्राकृतिक रिश्तेदारी है इस धुंध और शीतलहरी की सुरक्षा से। भारतीय बुद्धिजीवी तो सूर्य के अपहरण की 'फिरौती' का दलाल बन रहा है। मुझे तो इस बात का बड़ा संतोष है कि मैं आधुनिक और बुद्धिजीवी जैसा नहीं बन पाया।

तभी मन में बात उठती है कि इस पुण्य-थल को ददरी घाट क्यों कहते हैं? 'ददरी' शब्द का क्या रहस्य है? शायद ददरी के मेले की वजह से इसे ददरी घाट कहते हैं। बलिया में गंगा तट पर ददरी का मेला लगता है। अपने जिले में चौचकपुर है (वाह, क्या खूबसूरत नाम है! 'चौचक' माने 'मौज-ही-मौज')। वहाँ भी गंगा तट पर इसी दिन ददरी का मेला लगता है। गाजीपुर नगर के ददरी घाट पर अपने आप अघोषित रूप में मेला जुड़ जाता है, स्नान-घाट होने की वजह से। पर मूल समस्या तब भी रह जाती है कि 'ददरी' शब्द का अर्थ क्या होता है। पूर्वांचल में ददरी-नहान पर्व की बात बचपन से सुनता आया हूँ। इसकी कोई भूली-बिसरी लोक-संस्कृति की पुरानी परंपरा है। उस परंपरा का रहस्य 'ददरी' शब्द में ही 'संगुप्त' है। लोग बताते हैं कि बलिया में दर्दर ऋषि का आश्रम गंगा-तट पर ही था।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

फिर गाजीपुर के इस घाट और चौचकपुर के गंगा घाट के दर्दर ऋषि का संबंध? क्या उनका कोई संप्रदाय था? यह भी हो सकता है कि 'दर्दर' शब्द व्यक्ति की संज्ञा न होकर किसी आदिम जनजाति की संज्ञा हो और दर्दर मुनि उसी जनजाति से संबंधित रहे हों। जातिवाचक संज्ञाओं के शताब्दियों बाद व्यक्तिवाचक में रूपांतर के बहुत से उदाहरण हैं। क्या इस पर्व का संबंध किसी 'दर्दुर' संज्ञक जनजाति से है, जिसका यह नृत्यगीत प्रधान जल उत्सव रहा हो? महाभारत (अनुशासनपर्व, ३७/१७) में एक ऐसी 'दरद' जाति का उल्लेख है जो मूलत: क्षत्रिय थे, परंतु ब्राह्मण विरोधी यानी वैदिक पद्धति से रहित थे, और फलत: शूद्र घोषित कर दिए गए। बंगाल में 'दादुर-घाँटा'-संज्ञक लोकगीतों का उल्लेख भी पढ़ा है। अपने यहाँ चैता की तरह कुछ 'घाँटो' गीत भी कभी गाए जाते थे। अब वे लोरकी-बिरहा के आगे लुप्त होते जा रहे हैं। दूरदर्शन और आकाशवाणी ने मान लिया है कि लोकगीत माने बिरहा-लोरकी मात्र। मिर्जापुरवालों की कजली अब भी अपनी लयात्मक उतार-चढ़ाववाली ध्वनि के सम्मोहन के कारण और सावन के झूले के कारण बची हुई है। फिर भी इन ध्वनि-साम्यवाले शब्दों से 'ददरी घाट' के अर्थ पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। मेरी यह धारणा है कि इस पूर्वांचल में 'दर्दुर' या 'दर्दुरीक' संज्ञावाली कोई जनजाति रहती थी और 'ददरी-उत्सव' अर्थात् 'दर्दुरीक-उत्सव' उनकी लोक-परंपरा का अवशेष है। वह जनजाति आर्यीकरण की प्रक्रिया में सुसंस्कृत होकर भारतीय जनसमाज में विलीन हो गई। परंतु उसका अवशेष यह ददरी का मेला अब भी जीवित है। मुझे इस अवसर पर रवींद्र-वाणी का एक टुकड़ा याद आता है—'देश की लोक-संस्कृति के भीतर अतीत युग की संस्कृति के बहुत से निर्देशन 'संगुप्त' हैं, जिनमें हमारी जाति के पूर्णांग इतिहास के मूल्यवान् उपकरण हैं, इन निर्देशनों का गाँव-गाँव घूमकर संग्रह करना होगा।' देश के पूर्णांग जातीय इतिहास की चिंता रवींद्रनाथ को थी। परंतु आज, इस बीसवीं सदी के अंतिम दशक में निर्धारित हो चुका है कि आज का मनीषी 'कवि' नहीं, राजनीतिज्ञ है और राजनीतिज्ञ की मनीषा पूर्णांग इतिहास के फेर में क्यों पड़ने जाए! वह तो अपनी व्यूह-रचना के उपयुक्त सिद्धांत (आइडियोलॉजी) के अनुसार लिखे गए इतिहास को ही प्रासंगिक, अत: एकमात्र सही इतिहास मानेगी। यानी कमोबेश चार-पाँच हजार वर्ष पुराने भारत के इतिहास का सत्य उनकी उन्नीसवीं शती की किसी आयातित आइडियोलॉजी का अनुगमन करे। वामपंथी मुद्रा और सरकारी दरबार दोनों का संतुलन लेकर चलनेवाले एक स्थापित इतिहासविद् ने तो स्पष्टत: घोषित कर दिया है, 'नो आइडियोलॉजी, नो हिस्ट्री'—इतिहास को आइडियोलॉजी का अनुगमन करना ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होगा। यह सत्यानुसंधान है या सत्य की दुर्दशा। ऐसे में पूर्णांग इतिहास की बात ही कहाँ उठती है। 'दर्दुर' और 'दर्दुरीक' शब्दों के रहस्य को जानने के लिए मैं अंत में भगवती भाषा की शरण में जाता हूँ। 'दर्दुर' का एक अर्थ होता है 'दादुर' यानी मंडूक (मेढक)। दूसरा अर्थ होता है 'पर्वत' या एक पर्वत विशेष जो मलयाद्रि के आसपास है। सुंदरकांड में हनुमान सीता को समझाते हुए कहते हैं—'हे देवी, मैं फल-मूलों की शपथ खाकर कहता हूँ, मैं मंदराचल, विंध्याचल, सुमेरु, मलय और दर्दुर पर्वतों की शपथ खाकर कहता हूँ कि राम तुम्हारे लिए तुमसे कम शोकार्त्त नहीं हैं।' वैसे द्राविड़ भाषा में 'मलय' (मलै) की ही तरह 'दर्दुर' भी 'पर्वत' मात्र के लिए आ सकता है और उस स्थिति में 'ददरी' शब्द का तत्सम रूप 'दर्दुरीक' का अर्थ होगा (असमिया 'नगा' जाति की तरह) पार्वत्य या आरण्यक जाति। तो क्या ददरी घाट किसी आरण्यक दर्दुरीक जाति से संबंधित है और यह मेला उनके प्राचीन नृत्यगीत समन्वित जल-उत्सव का अवशेष है जो वसंतागम के पूर्व मनाया जाता था? ऐसा सोचना सटीक तो नहीं, पर असंभव भी नहीं है। विशेषत: 'दर्दुरीक' शब्द का एक अर्थ वाद्ययंत्र, संभवत: बाँसुरी जैसा, भी है (आप्टे : संस्कृत कोश)। 'दर्दुर' और 'दर्दुरीक' शब्दों में कुछ ऐतिहासिक संकेत संगुप्त हैं, यानी विशेष रूप से छिपे हैं। 'दर्दुर' से 'दादुर' बनता है। कई रागों का नामकरण जनजातियों के आधार पर है और एक प्रसिद्ध राग का नाम 'दादरा' तो सर्वजनविदित तथ्य है। भाषा भगवती इशारे कर रही हैं। शब्द के भीतर ब्रह्म स्थित रहता है। तभी तो कहते हैं शब्द ब्रह्म। ब्रह्म अर्थात् सत्य। 'य: पश्यति स: पश्यति' के सिद्धांत के अनुसार, इसे देखने के लिए 'दृष्टि' को लब्ध करना होता है। रवींद्रनाथ का इशारा इसी 'दृष्टि' के अर्जन के लिए है। 'दर्दुरीक' दर्दुर जनजाति के द्वारा प्रयोग में लाई जानेवाली विशेष प्रकार की वंशी है और 'दादरा' उनके द्वारा नामांकित 'राग' है। इक्ष्वाकुवंशी अयोध्या के राजा परीक्षित् और मंडूक राजा की पुत्री सुशोभना की प्रेम-कथा 'वनपर्व' में मौजूद है। इसमें विशेष बात यह है कि 'महाभारत' में यह कथा श्लोक में नहीं, गद्य में है और यह माना जाता है कि पुराणों में गद्यांश ज्यादा प्रामाणिक होते हैं और यह कथा किसी प्राचीनतर लोकानुश्रुतिगम्य इतिहास का संकेत करती है।

इस कथा का संबंध पूर्वी आर्य-गाथा से यानी सूर्यवंशी इक्ष्वाकुओं से है। इसका लीलाक्षेत्र काशि कोशल-विदेह की प्राच्य भूमि है। अर्थात् उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल में ही संभवत: वह मंडूक जाति रहती थी और जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है, वह जलजीवी निषाद प्रजाति (ऑस्ट्रिक) की ही कोई शाखा थी। वनपर्व में महामुनि मार्कंडेय इसे पांडुपुत्र युधिष्ठिर को सुनाते हैं। ये मंडूकगण जल के भीतर निवास

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करते थे, अर्थात् झील या जलाशय के भीतर जल दुर्ग निर्माण करके रहते थे; जो जन सामान्य के लिए दुर्गम था। कथा नायक परीक्षित् इक्ष्वाकुवंशी अयोध्यापति हैं और ये कुरुवंश में उत्पन्न परीक्षित् से भिन्न व्यक्ति हैं। वस्तुतः प्राच्य भारत अर्थात् गांगेय भारत में आर्यों और निषादों का सांस्कृतिक समन्वय हुआ है, जो वर्तमान हिंदू धर्म की प्रसव भूमि बनता है। यह कथा एक व्यापक ऐतिहासिक संकेत देती है। महामुनि मार्कंडेय कहते हैं; युधिष्ठिर महाराज सुन रहे हैं—

'अयोध्यापुरी में इक्ष्वाकुवंशी राजा परीक्षित् रहते थे। एक दिन वे शिकार खेलते हुए एक हिंसक पशु के पीछे बड़ी दूर निकल गए। पथ-श्रम से चूर हो जाने से उन्हें भूख और प्यास लग गई। उसी समय उस प्रदेश में एक नील गहन वनखंडी उन्हें दिखाई पड़ी। राजा ने उस वनस्थली में प्रवेश किया, जिसके मध्य एक रमणीय सरोवर था। राजा स्वयं जल पीकर स्वस्थ हुए तथा घोड़े को कुछ कमल नालें डालकर वहीं तट पर लेट गए। लेटे-लेटे उन्होंने एक सुमधुर गीत की ध्वनि को सुना। सोच ही रहे थे कि यह कौन गा रहा है कि उनकी दृष्टि पुष्प चयन करती हुई एक कन्या पर पड़ी, जो गीत गुनगुनाती हुई उन्हींकी ओर आ रही थी। निकट आने पर कन्या से राजा ने पूछा, 'कल्याणी, तुम कौन हो?' कन्या ने उत्तर दिया, 'मैं एक कन्या हूँ।' राजा ने कहा, 'मैं तुम्हें चाहता हूँ।' उसने उत्तर दिया, 'तुम मुझे एक शर्त पर पा सकते हो और वह शर्त है—मुझे कभी जल का दर्शन मत कराना (न उदकं मे दर्शयितव्यं)'। राजा ने कहा, 'ठीक है।' तत्पश्चात् उस कन्या के सौंदर्य से विमुग्ध राजा ने उसके बारे में और जानकारी लेने की चेष्टा नहीं की और तत्काल उसका वरण कर लिया। कुछ समय पश्चात् राजा के अनुचर भी आ गए। तब राजा उसे पालकी पर चढ़ाकर राजधानी अयोध्या लौट आया और कर्तव्य-विस्मृत होकर उसीके साथ विहार में लीन रहने लगा।

'राजा के इस एकांतवास से मंत्रियों को बड़ी चिंता हुई। उन्होंने धीरे-धीरे इस रहस्य का पता किया कि रानी की शर्त क्या है। उन्होंने इस रानी के अंतःपुर के पास फल-फूलों का एक उद्यान लगवाया और बीच में एक बावड़ी की रचना करवाकर उसके स्वच्छ जल को लता-गुल्मों से ढकवा दिया। बावड़ी एक लतामंडप से घेर दी गई थी। तत्पश्चात् मंत्रियों ने राजा से नए उद्यान में विहार करने का आग्रह किया। राजा अपनी प्रिया के साथ घूमते-घामते संयोगवश उस लतामंडप के भीतर चला गया। सुंदर वापी को देखकर वह बोल उठा, 'देवी, सावधानी से इस वापी में उतरकर विहार करें।' संयोग की बात है कि उस क्षण उसे पुरानी शर्त याद न रही। रानी पानी में कूद पड़ी और जल में अंतर्धान हो गई। काम-विकल राजा ने बावड़ी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के सारे जल को बाहर निकलवा दिया। तब भी वह नहीं मिली। तल में मात्र एक मंडूक मिला। राजा ने घोषणा की, 'धरती को मंडूकों से विहीन कर दूँगा! इन्होंने ही रानी को खा डाला है'।'

इसके बाद मूल इतिहासवृत्त पर लोककथाओं का रंग चढ़ जाता है। राजा ने आसपास खोज करवाई होगी। मंडूक जाति के किसी सदस्य पर उसका संदेह गया होगा। मार्कंडेय मुनि बताते हैं, 'राजा द्वारा मंडूकों की भयंकर संहार-लीला से त्रस्त होकर मंडूकराज 'आयु' ने ब्राह्मण वेश धारण करके विनती की, 'महाराज, क्षमा करें। वह कन्या, जिसके लिए आप हमारी जाति का निधन कर रहे हैं, हमारी ही दुःशीला पुत्री है। उसका नाम है सुशोभना। महाराज, वह 'अन्य पूर्वा' दूसरों द्वारा पहले भी वरण की गई है और उस दुष्टा ने इसके पूर्व अन्य राजाओं को भी ऐसे ही आचरण करके छोड़ दिया है।' सुशोभना के इस चरित्र को जानकर भी अपने उदार मन और प्रगाढ़ प्रेम का परिचय देते हुए आर्यवंशीय परीक्षित् ने उत्तर दिया, 'तो भी मैं उसे अंगीकार करूँगा। उसे मुझे लौटा दें।' मंडूकराज ने अपनी पुत्री को समर्पित करते हुए आदेश दिया, 'महाराज की नित्य सेवा करती रहना!' परंतु उसके दुराचरण से वह भीतर-ही-भीतर क्षुब्ध था, अतः उसने साथ ही पुत्री को शाप भी दे दिया, 'दुष्टे, तू बड़ी झूठी है। इसके पूर्व बहुतों को छला है। अतः तेरी संतानें ब्राह्मण-विरोधी होंगी।'''' परीक्षित् ने सुशोभना के गर्भ से तीन पुत्र उत्पन्न किए—शल, दल और बल। परीक्षित् के बाद इक्ष्वाकुवंश के सिंहासन पर शल बैठा और उसने ऋषि वामदेव के तेजस्वी अश्वों को जबरदस्ती अधिकृत कर लिया। वामदेव के क्रोध से शल की मृत्यु हुई। तब इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रियों ने दल का राज्याभिषेक कर दिया। दल ने प्रारंभ में वही हठ किया। परंतु ऋषि की दिव्य शक्ति से पराजित होकर उसे उन तेजस्वी अश्वों को लौटा देना पड़ा। दल की रानी के अनुनय-विनय पर प्रसन्न होकर वामदेव ने भी शापमोचन कर दिया।'

इस कथा में महर्षि वामदेव का आना भी संकेतपूर्ण है। संभवतः कथा का काल त्रेतायुग है। वामदेव विदेहों के पुरोहित थे और गौतम-अहल्या के पुत्र थे; जिनका मूल आश्रम सिद्धाश्रम (बक्सर) में था। इससे भी सिद्ध होता है कि यदि इस कथा में इतिहास का कोई रेशा या बीज है तो इसका क्षेत्र मिथिला-छपरा-बलिया-भोजपुरवाला काशिका क्षेत्र ही हो सकता है। यहीं पर कभी इतिहास की प्राचीनतम शताब्दियों में, जब भारत की आखिरी पूर्वी सीमा गंडक नहीं रही होगी, कोई 'दर्दुर' अर्थात् मंडूक जाति रहती थी, जो आर्येतर जलजीवी निषाद प्रजाति की कोई शाखा थी और उसीकी एक कुमारी के साथ महाप्रतापी इक्ष्वाकुवंश के एक नायक ने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विवाह-संबंध किया और उसकी संतानें शुद्ध इक्ष्वाकु क्षत्रिय मानी गईं। शायद 'ददरी' शब्द इसी जाति की 'दर्दुरीक' संज्ञा से ही जुड़ा हो। वह जनजाति कब की भारत नामक 'महामानव समुद्र' में अपना नाम-रूप खो चुकी है। पर शब्द मौजूद है और जल-उत्सव का परिवर्तित रूप यह 'नहान'-पर्व और मेला आज भी चालू है। गंगातीरी हिंदू संस्कृति ने अल्पज्ञात मंडूक या 'दर्दुरीक' जनजाति से इसे आनुवंशिक उत्तराधिकार सूत्र से प्राप्त किया है; क्योंकि इस भूखंड की सर्वाधिक प्रतापी आर्यशाखा इक्ष्वाकुगण से उनका भी रक्त-संबंध स्थापित हो गया था। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। ऋग्वैदिक दशराज्ञ युद्ध के बाद आर्यत्व की नई उदार प्रकृति में ऐसा होना युक्तिसंगत माना गया था। रामायण और महाभारत दोनों आर्यगाथाओं में इस सांस्कृतिक मिश्रण के अनेक उदाहरण हैं। इसके सबसे ज्वलंत उदाहरण तो स्वयं भगवान् वेदव्यास ही हैं। परीक्षित् और सुशोभना की यह कथा आधुनिक ही नहीं, 'परा आधुनिक' या 'अति आधुनिक' नारी चरित्र को उपस्थित करते हुए उसकी 'ना'-धर्मी (निगेटिव) प्रकृति का संकेत देती है। उसका पिता भी इसे 'दुःशीलता' मानता है। सुशोभना की संतानों के आर्यत्व या क्षत्रियत्व के प्रति उन दिनों न तो पुरोहित ने प्रश्नचिह्न लगाया और न इक्ष्वाकु कुल के समकालीन क्षत्रियों ने। यह भी एक रेखांकित करने लायक बात है। जातीय 'शील' के बारे में यह उदार दृष्टि आज के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है। साथ ही इस कथा से यह भी स्थापित होता है कि भारतवर्ष संस्कृति और धर्म की दृष्टि से एक और अविभाज्य है और 'पचासी' बनाम 'पंद्रह' जैसे राजनीतिक नारों का सांस्कृतिक, धार्मिक और राष्ट्रीय (जातीय) दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं। बीच में अनिवार्य ऐतिहासिक कारणों से सामाजिक संदर्भ में दृष्टि-विभ्रम और विसंगति आ गई है, तो उसे दूर करने का उपाय समाज का ही विखंडन और प्रतिशोधमूलक राजनीति नहीं हो सकती।

मैं ददरी घाट के एक कोने में खड़ा-खड़ा यही सब सोच रहा था और मन के भीतर सहस्राब्दियों पूर्व घटित इस पूर्वी आर्यगाथा के विस्मृत पन्नों को पढ़ रहा था कि पीछे से एक परिचित स्वर आया, 'अरे, आप भी आ गए हैं! चलिए कपड़े उतारिए, हिम्मत कीजिए, जहाँ डुबकी लगाए कि सारी शीत गायब!' मैंने मुड़कर देखा, पहचाना और मन-ही-मन लज्जित हुआ, यह सोचकर कि शायद मित्र यह न समझा हो कि बच्चू, रन पर चढ़ आए हो, अब हिम्मत नहीं पड़ रही है इस ठंडक में पानी में उतर पड़ने की। मैंने तत्काल वस्त्र उतारकर एक तीर्थ-पुरोहित की चौकी पर रख दिए और सीढ़ियों से उतरकर जलधारा में प्रवेश कर गया। एक डुबकी, दो डुबकी, तीसरी डुबकी के बाद तो मैं स्वयं निर्भीक सूर्य बन गया और देखा कि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्रद्धालुओं के चढ़ाए पुष्प जल-प्रवाह में तिर रहे हैं और दो-एक मेरी देह से भी टकरा रहे हैं, गोया ऊपर के सूर्य ने हँसकर कहा हो, 'हाँ, तुम भी तो सूर्य ही हो। लो अपना हिस्सा!' मुझे याद आया, ऋषियों ने भी कहा है, देह-देह के भीतर 'सूर्य' है, वह जीवनपर्यंत कभी अस्त नहीं होता है, जीवन समाप्त होने पर 'प्रज्ञानघन' में पुनः लीन हो जाता है, निद्राकाल में जब हम बेसुध रहते हैं 'तेजस' रूप धारण कर पहरा देता है, स्वप्नावस्था में 'हिरण्यगर्भ' बनकर भय और काम मायालोक में ले जाकर 'पिकनिक' करा लाता है और जगने पर 'वैश्वानर' रूप में कर्माध्यक्ष और कर्मकर्तृत्व शक्ति बनकर लोकयात्रा करता है। न तो बाहर का सूर्य कभी पराजित होता है, न भीतर का। धुंध, शीतलहरी, प्रमाद और भ्रांति से इसका अनुभव हम सर्वदा नहीं कर पाते हैं। पर यह है, यह अमृत है और यह अपराजित है।

□

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अग्नि धीरोदात्त : अग्नि धीरललित

✧✧✧✧✧✧✧✧✧✧✧✧✧✧✧✧✧✧✧✧✧✧✧✧✧✧✧✧✧✧✧✧

...पुरोहितवाद की स्वार्थ साधना ने 'क्रतु' को कालांतर में लालसा यज्ञ में परिवर्तित कर डाला। जब यह 'यज्ञ' अपने विलोम 'भोग' का साधन बन गया तो बुद्ध ने इस तृषार्त्त कामना-भोग के विरुद्ध विद्रोह किया। पर वह विरोध या विद्रोह 'यज्ञ' के प्रति नहीं था। ब्राह्मण के प्रति नहीं था, पुरोहितवाद के प्रति था, पुरोहितवाद के पाखंड के प्रति था। बुद्ध अपने कालखंड के सबसे सच्चे ब्राह्मण थे और उन्होंने 'यज्ञ' को नए ढंग से परिभाषित किया।...धर्म के इतिहास में बुद्ध की भूमिका सद्धर्म के निर्देशक शास्ता के रूप में है। वे धर्म-चक्रवर्ती थे। बुद्ध का लोकोत्तर रूप बौद्ध साहित्य और कला में सक्रिय महाकल्पना के भीतर घोर पथहीन आरण्यक रात्रि में दिशा-निर्देश के लिए जलाई गई आग ही दहाड़ी के रूप में है।...

शिशिर की ओस भीगी रात। आकाश विवर्ण और व्यक्तित्वहीन। धरती मोहाच्छन्न और शवोपम। विश्व का प्राणमुकुल ही लगता है, संपुटित हो गया है। जीव-जीव श्वानकुंडली मारकर 'रात्रौ चिबुक समर्पित जानु' की शैली में दुबककर सो रहा है। जो जगे हैं, वे भी शीताहत और आविष्ट हैं। ऐसी सर्वभक्षी धुंध-भरी रातों में आग की लपट कितनी रहस्यमय और कितनी सुंदर लगती है! हम इसका अनुभव वैदिक युग से ही कर रहे हैं।

भारतीय वाङ्मय का प्रथम शब्द है 'अग्नि' और प्रथम वाक्य है—'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।' इस अग्नि की हम वंदना करते हैं। जो पुरोहित है, जो ब्राह्मण है, क्षत्र का भी 'क्षत्र' है, नग्न देह आगे-आगे स्रुवा लेकर चलता है, पथ-निर्देश करते हुए, नदियों का भेदन करते हुए, समुद्र का पान

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करते हुए, उत्तुंग शिखरों को भूलुंठित करते हुए, रक्षा-मंत्र का पाठ करते हुए, यह क्षत्र के आगे-आगे चलता है, यह समाज की सावधान आँख है। यह अग्नि हमें 'धर्मस्य पंथा' पर लेकर चलनेवाला नेता है। हम इसकी उपासना करते हैं, अतः देवता है। इसकी लपलपाती अग्निशिखा हमारे अंदर मंत्र उद्बुद्ध करती है, अतः ऋत्विज् है। यह हमारे ठंडे-सिकुड़े-संपुटित प्राणों में कर्म का संवेग भरती है, अतः होता भी है। यह रत्नों की विधातृ शक्ति है, अतः 'रत्न-धाता' है। पर गोधन ही जिनका धन था उनके लिए हीरा-मोती रत्न नहीं थे। उनका रत्न था सद्कर्मों का फ़ल। उनकी ऋद्धि थी ब्राह्मीश्री।''इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे प्रथम कवि, ऋषि ने अग्नि को मात्र रूपमयी लपट या दहकते अंगार के रूप में नहीं देखा था, बल्कि इच्छा-ज्ञान-क्रिया की दिव्य शक्ति के रूप में और 'सर्वकर्म चिंता आनंदेर नेता' के रूप में देखा था। यह हमारे वाङ्मय का प्रथम वाक्य ही मनुष्य, प्रकृति और देवता के घनिष्ठ संबंध का संकेत कर देता है। अग्नि प्रथम प्रजापति है अर्थात् पितामह जैसा है। ऐसा समझना तो सहज है। पर सूक्त के अंतिम मंत्र में वह एक नन्हे-मुन्ने बच्चे जैसा, 'आ राजा बेटा, आ जा!' जैसे भाव का आलंबन भी बन जाता है। 'स नः पिते व सूनवेऽग्ने सुपायनो भव'—अर्थात् हे अग्ने, जैसे बच्चे को 'राजा बेटा, आ जा!' कहने पर वह उल्लास के साथ पिता के पास चला आता है, उसी उल्लास से तुम हमारे पास आओ और 'सचस्वा नः स्वस्तये' यानी जैसे लोवा-पोवा नरम बच्चे को गोद में पाकर पिता के मन में मंगलमय भाव पैदा होते हैं वैसे ही तुम भी हमारे स्तवन को सुनकर आतुर दौड़े-दौड़े आकर मंगलकारक बनो।

देवता के साथ गहरी आत्मीयता का जो बोध मध्यकालीन साहित्य में मिलता है, उसका बीज हमारे साहित्य के प्रथम चरण में ही विद्यमान है। अग्नि देवता है, नेता है, प्रजापति है और साथ ही कुटुंब का सदस्य भी है। वह पितामह जैसा है अथवा वह घर के किलकते बच्चे जैसा है। दास्य श्रद्धा, सख्य सतीर्थत्व और वात्सल्य अनुराग—तीनों का आलंबन है यह अग्नि। प्रकृति, मनुष्य और ईश्वर के त्रिक के घनिष्ठ संबंध का बोध कराता है यह अग्नि। यही बात पवमान मरुत के लिए भी है। यही पर्जन्य, उषा और रात्रि के लिए भी। यही विश्वप्राण के सखा सूर्य और ओषधियों के स्वामी सोम के लिए भी। अखंडित पूर्णांग दृष्टि और समग्र बोध की यह कविता ऋषि-कवि के पवित्र और अवदमन-मुक्त मन से निकली है। मानसिक और राजनीतिक अवदमनों के रस में लीन और सम्मोहित आधुनिक दृष्टि उनके मर्म में प्रवेश नहीं कर पाती। फल होता है, ठंड में ठिठुरते हुए क्रुद्ध शाखामृग जैसा उनका व्यवहार।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इतिहास में आर्य-प्रश्न विवादास्पद है, पर 'आर्य' नाम की कोई जाति हो या न हो, आर्य-मूल स्थान चाहे जो हो, ऋग्वैदिक ऋषि-कवि से जुड़े मानव-समुदाय की एक विशिष्ट पहचान है और वैदिक युग में उसकी सकूनत का स्पष्ट संकेत इन मंत्रों से मिलता है, जिनमें मनुष्य, देवता और प्रकृति एक घनिष्ठ संबंध में बँधे हुए व्यक्त किए गए हैं। वह निश्चित ही ऐसा प्रदेश होगा जिसका एक भाग हिमशीतल तुषार से आच्छादित रहता होगा, जिसमें अग्नि मधुमय लगता होगा, पितामह जैसा और अपने सुख-दु:ख का समव्यथी लगता होगा; वह प्रदेश ऐसा होगा जिसमें धूप मधु बरसाती-सी लगती होगी और सूर्य प्राणों का सखा जैसा लगता होगा; वह प्रदेश ऐसा होगा जिसमें नदियों में निर्मलता, शुचिता, गति और आशीर्वाद प्रवाहित होते हुए लगता होगा और उसे वे कामधेनु जैसी, 'वाक्' जैसी मानते होंगे; वह प्रदेश ऐसा भी रहा होगा जिसमें बीहड़ अरण्य रहे होंगे, झाड़-झंखाड़ रहे होंगे और प्रतिसंध्या को वह अरण्य पक्षियों से मुखरित रहता होगा, रात्रि के एकांत में भी वह अरण्य सोता नहीं होगा और सिंह-श्वापद और श्रृगाल बोलते होंगे, कभी-कभार उस अरण्य में रात्रि में घूमते हुए वे अनुभव करते होंगे कि अरण्यानी और नदी में संलाप चल रहा है।

वह ऐसा भी प्रदेश रहा होगा जिसमें शरद् में पकती खेती की गंध, वर्षा में अरण्यानी का सौंदर्य और वसंत में मधुमय वायु तथा ग्रीष्म में प्रखर ताप उन्हें प्रभावित करता रहा होगा। प्रात: किरणें उन्हें झुंड-की-झुंड उतरती गायों जैसी लगती रही होंगी और पर्जन्य-घटा में कड़कती विद्युत् उन्हें किसी क्रुद्ध महादेवता की प्रहारोद्यत उठी हुई पाणि जैसी लगती होगी। उस महादेवता का वर्ण उन्हें मेघ-श्यामल लगता होगा और जाज्वल्यमान सूर्य उसका सहोदर दायाद जैसा लगा होगा, जो उस महादेवता के हटते ही आकाश को दखल कर लेता है।

जाहिर है कि इन सारे ऋतु-कलापों के छंद-प्रतिछंद जिस भूमि में घटित होते होंगे, वह प्रदेश देवतात्मा हिमालय, उसके दक्षिण का नदी-मातृक देश और अरण्य-पर्वतों से घिरा देश जैसा ही रहा होगा, जिसमें घूमते हुए वे प्रकृति की इन भंगिमाओं से परिचित हुए होंगे। उनमें से जो अधिक संवेदनशील रहे होंगे, उनकी दिदृक्षा ही सिसृक्षा में बदल गई होगी। अति तुषाराच्छादित दिवस, अति सघन अरण्यानी, अति रमणीय और कड़कता हुआ रम्यदारुण पावस, अति साफ-सुथरा निर्मल आकाश की पूर्वापर भंगिमाओं को धारण करनेवाली द्यावा पृथ्वी हो न हो, यह जंबूद्वीप-भरतखंड ही रही होगी। मंत्रों के सामान्य पाठ से ही ऐसा संकेत मिल जाता है। हो सकता है कि आर्य मूल-भूमि अन्यत्र रही हो, वे घुमंतू रहे हों। पर आर्य-साहित्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के प्रथम उन्मेष की अधिष्ठान भूमि यह भारतवर्ष ही होना चाहिए। वे प्रारंभ में अन्य जातियों की तरह घुमंतू ही रहे होंगे। अग्नि उनका नेता था और यज्ञ उनका धर्म। यह अवश्य ही है कि उनका भारत उनके साथ विस्तीर्ण होता गया। उत्तर कुरु से गांधार, गांधार से सप्तसिंधु, सप्तसिंधु से यमुना-प्राच्य सदानीरा तक, या विंध्याचल से दक्षिण नर्मदा-ताप्ती तक, कृष्णा-कावेरी तक। जैसे-जैसे यज्ञभूमि का विस्तार होता गया, भारत विस्तीर्ण होता गया, उत्तर कुरु से केरल तक और हिंगलाज से मणिपुर तक। उन्होंने इसीलिए क्षेत्र या देश के लिए 'आवर्त्त' और 'पथ' का नाम दिया और इसको ही 'पृथ्वी' माना तथा इसे 'यज्ञभूमि' की संज्ञा दी। उत्तर को आर्यावर्त्त कहा, दक्षिण को दक्षिणापथ तथा दोनों के लिए 'पुण्यभूमि' और 'यज्ञभूमि' संज्ञाएँ रखीं। 'भारत' इसीकी संज्ञा हुई।

यह संज्ञा एक सांस्कृतिक बोध से उत्पन्न हुई है। इसीसे यह एक क्षेत्रीयता-मुक्त चेतना है, एक महाद्वीपीय चेतना है और इसे पश्चिम द्वारा सिखाई गई जंगी राजनीतिक राष्ट्रीय चेतना के रूप में देखना अपनी अर्जित भ्रांति या अविद्या का सत्य के ऊपर आरोपण करना है और विडंबना तो यह है कि इस 'आरोपित भ्रांति' को ही उसकी पहचान माननेवाले ही इसी भ्रांति के आधार पर उस सत्य का चरित्र हनन कर रहे हैं।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास में ऋषि-कवि एक ऐसा प्राण-रस से भरा महीरुह है, जिसमें प्रत्येक पतझर के बाद नए पत्ते उग आते हैं और महीरुह नया हो जाता है। अब तक यह चार बार बड़े पतझरों से गुजर चुका है। बुद्ध के जन्म पूर्व, फिर आठवीं शताब्दी के बाद, फिर पंद्रहवीं शताब्दी के बाद, फिर उन्नीसवीं शताब्दी में, पीत जर्जर पत्र झड़े हैं और नए ताम्राभ हरित किशलय लगे हैं। बुद्ध और महावीर, शंकर-रामानुज, नानक-कबीर-तुलसी और दयानंद-विवेकानंद-गांधी इस महीरुह के ही नए ताजा पत्ते थे और यह महीरुह स्वयं अपना आकाश, अपनी नदी और अपना मरुत-प्रवाह बार-बार रच लेता है।

वैदिक संस्कृति यज्ञ-संभवा थी। यज्ञ का प्रतीक है लपलपाती हुई स्वाहा-शिखा, जो आहुति माँगती है और उस आहुति को ऋषि कल्पना के अनुसार देवों तक पहुँचाकर मनुष्य और देवता से संपर्क स्थापित करती है।

'यज्ञ' के लिए एक प्रतिशब्द है 'क्रतु'। 'क्रतु' के अनेक अर्थ होते हैं, परंतु प्रत्येक अर्थ में 'आहुति' या 'त्याग' का संकेत विद्यमान रहता है। 'क्रतु' माने यज्ञ, कर्म, तप, त्याग, वैराग्य, ज्ञान, ब्रह्म, ईश्वर—सभी कुछ होता है। वैदिक ऋषि की संस्कृति-साधना 'क्रतु' और 'काम' इन दोनों प्रमूल्यों को 'ऋत' अर्थात् प्राणधर्म को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मांगलिक छंद के सामंजस्य में रखकर चलती है।

काम और क्रतु की समरसता ही संस्कृति है और तभी काम और क्रतु अपने-अपने ढंग से प्रेयं और श्रेय का दरवाजा खोल देते हैं। विच्छिन्न काम अविद्या है। विच्छिन्न क्रतु उससे भी गहन अंधकारवाली अविद्या है। अंधकार तो दृष्टि पर आवरण डाल देता है, परंतु तीव्र प्रकाश की चकाचौंध दृष्टि का ही हरण कर लेती है। इसीसे ऋषि काम और क्रतु का सामंजस्य या सामरस्य ही वरणीय मानता है। ऋषि इन दोनों को पहचानता है। ये दोनों अग्नि के ही दो रूप हैं। यज्ञाग्नि और कामाग्नि। क्रतु और काम। इनमें काम सहज और सहजात वृत्ति है। पर 'क्रतु' अर्जित और साधनालब्ध है। ऋषि-जीवन के केंद्र में थी यज्ञ-शिखा, अतः उसने 'क्रतु' को श्रेष्ठतर मर्यादा दी और उसीका अनुधावन किया बुद्ध ने, शंकर ने, नानक-कबीर ने, दयानंद-गांधी ने। 'क्रतु' अर्थात् कर्म; परंतु 'इदं इंद्राय न इदं मम' के साथ। 'क्रतु' त्याग, वैराग्य, तपस और निष्काम कर्मयोग है। जिसे हम 'हमारा' कहते हैं, वह वस्तुतः देवता का दान है। कर्म हम करते हैं, पर उसे फलीभूत देवता करता है, अग्नि करता है, तो हम उसपर अपना एकाधिकार कैसे जताएँ? अतः यह इंद्र को जाए, हमारी यज्ञ-शिखा इसे इंद्र तक पहुँचाए! हमारा तपस इसे हमसे किसी बृहत्तर सत्ता को अर्पित करना है।

सांस्कृतिक विकास के पथ पर इस यज्ञ-भाव के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर विकास होते गए। योगी प्राणयज्ञ करता है, प्राण में अपान का हवन करता है। तपस्वी ध्यानयज्ञ करता है और समाधि के चिद्कुंड में चित्त का हवन करता है। आराधक जपयज्ञ करता है और ध्यान के भीतर शब्द का हवन करता है। कवि भावयज्ञ करता है और मन के भीतर संवेदना का हवन करता है। प्रेमी रागयज्ञ करता है और हृदय में पूर्वराग, राग और महाराग का हवन करता है। पुरुष जीवनयज्ञ करता है और कुल-समाज-देश के भीतर कर्म का हवन करता है। जो कुछ हमारे अहंकार को तृप्त करता है, जो हमारे अहंकार के लिए सर्वाधिक प्रिय है, उसका अपने इस अहंकार से बृहत्तर सत्ता के भीतर हवन करना यज्ञ है। इस बृहत्तर सत्ता का विश्व रूप है समष्टि और आत्म रूप है स्वयं अपनी आत्मा।

समष्टि और आत्मा, एक बृहत्तर रूप के दो संस्करण हैं। यह जरा सूक्ष्म बात है और इसे ठीक-ठीक तभी समझा जा सकता है जब भारतीय चिंतन में अभिनिवेश हो। प्रवेश ही पर्याप्त नहीं है, अभिनिवेश चाहिए। अभिनिवेश विषय के साथ 'कीटः भृंग गति' की माँग करता है। आत्मा और व्यक्तिसत्ता का 'अहंकार' (ईगो) दोनों दो तरह के तत्त्व हैं। आधुनिक बुद्धि दोनों में प्रभेद नहीं कर पाती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अहंकार की तृप्ति में एक मादक सुख है, एक विमत्तकारी आनंद है; पर यह मन को अवसन्न या आच्छन्न कर देता है, क्योंकि इसमें तृषा है और मादकता है। वह रोज-रोज नई खुराक चाहता है। अत: अहंकार की तृप्ति के लिए कर्म करना यज्ञाग्नि में हवन नहीं, तृषाग्नि में हवन है; और तृषा की कोई सीमा नहीं होती। हर एक मादक वस्तु अंत में रिक्त कर डालती है, वह कभी भी परिपूर्ण नहीं करती। वह असली आनंद नहीं है। असली आनंद तो परिपूर्ण करता है, जैसे जलपूर्ण कुंभ, जैसे जल में उत्फुल्ल कमल, जैसे जल से छलकती हुई और निरंतर आत्मदान करती हुई नदी। इस गंभीर सत्य को अपने इतिहास के ब्राह्ममुहूर्त में ही ऋषि-कवि ने उपलब्ध कर लिया था। अत: अहंकार के अलंकरण के लिए नहीं, आत्मा की उत्फुल्लता के लिए कर्म करो और ऐसा कर्म 'क्रतु' अर्थात् यज्ञ भाव से बृहत्तर के प्रति समर्पित कर्म ही हो सकता है।

अपने महत् अर्जन को किसी अन्य के प्रति अर्पित करना, अपनी जो प्रियतम वस्तु हो उसे देवता को समर्पित करना 'क्रतु' या 'यज्ञ' है। ऐसी आहुति ही हमें हमारी महाकल्पना के भीतर जरा-मरण भय से ऊपर उठाकर अमृत भाव से, देवोपम बोध से जोड़ सकती है और उस समर्पण के बाद 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' ही उसके आनंद भोग का ऋतवद्ध रूप होता है। यह थी असली 'क्रतु' का आयडिया। परंतु पुरोहितवाद की स्वार्थ-साधना ने 'क्रतु' को कालांतर में लालसा यज्ञ में परिवर्तित कर डाला। जब यह 'यज्ञ' अपने विलोम 'भोग' का साधन बन गया, तो बुद्ध ने इस तृषार्त्त कामना-भोग के विरुद्ध विद्रोह किया। पर वह विरोध या विद्रोह 'यज्ञ' के प्रति नहीं था, ब्राह्मण के प्रति नहीं था; पुरोहितवाद के प्रति था, पुरोहितवाद के पाखंड के प्रति था। बुद्ध अपने कालखंड के सबसे सच्चे ब्राह्मण थे और उन्होंने 'यज्ञ' को नए ढंग से परिभाषित किया। यज्ञ की अंत:प्रकृति के भीतर जो त्याग-तपस और 'क्रतु' का भाव है, उनकी इस परिभाषा से स्पष्ट होता है—

'हित्वा अहं ब्राह्मण, दारु दाहं,
अज्झयमेव जलयामि ज्योतिं।
निच्चग्निको, निच्च समाहितात्मा,
अर्हन् अहं ब्रह्मचर्यं चरामि॥'

परंतु बुद्ध कामाग्नि अर्थात् अग्नि के दाहक रूप से भी पर्याप्त चिंतित थे। उनके उपदेशों के मूल में है इस जंबूद्वीप में निरंतर जल रही लोभ की, काम की, वैर की दाहक अग्नि का प्रतिकार। अग्नि तो क्रतु भी है, काम भी है। 'क्रतु' की अग्नि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मनुष्य को देवता से जोड़ती है और उसमें देवत्व के कुछ गुण स्थापित करती है। पर 'काम' की अग्नि एक अंधकारमय नरक रचती है, जिसमें एकमात्र रोशनी है अपने ही प्राणों को दग्ध करती हुई तृषाग्नि।

ऋषि कहता है, ऋतबद्ध 'काम' भी यज्ञ ही है। परंतु बुद्ध इससे इतने त्रस्त हैं कि कोई छूट नहीं देना चाहते हैं। वे इस काम की दाहक अग्नि से अपने शिष्यों को कठोरतापूर्वक सावधान करते हैं—'भिक्षुओ, आँखें जल रही हैं। सारा दृश्यमान जगत् जल रहा है। भिक्षुओ, यह कौन-सी अग्नि है? यह कामना की अग्नि है। इससे बचो! इससे दूर हटो!' (सुरंगम सूक्त)

बुद्ध अपने समय के कामना प्रधान कर्मकांड को देख रहे थे। अतः उन्होंने कामना निग्रह का जमकर प्रतिपादन किया था। उनका उद्देश्य सहज जीवन का विरोध नहीं था। वे तो 'मध्यम मार्ग' के विश्वासी थे और कृच्छ साधन को भी उन्होंने निरस्त कर दिया था। उनका उद्देश्य था तत्कालीन मनुष्य के मन को नीरुज् करना, जीवन को निर्मल और सहज करना। इस अतिशय काम-पीड़ित जगत् को स्वस्थ और प्रकृतिस्थ करना ही उनका लक्ष्य था। हम वैरी जगत् में जीते हुए वैरियों के बीच अ-वैरी भाव से रहने का सुख प्राप्त करें। हम आतुरों के बीच रहते हुए अनातुर भाव से जिएँ। इसी 'शील' का उपदेश वे देते थे। वैदेहीपुत्र अजातशत्रु ने पूछा था, 'भगवन्! इसी जन्म में, इस इहजीवन में ही, इस श्रामण्य या संन्यास का कोई फल लब्ध होता है या नहीं?'

उन्होंने उत्तर दिया था, 'होता है। वह फल एक अवदमनहीन शांत चित्त की उपलब्धि का सुख है।' वह सुख कैसा है, इसकी व्याख्या में उन्होंने अनेक दृष्टांतों को उपस्थित किया है। उनमें से एक यह है—घोर अरण्य में दावानल की ज्वालाओं से घिरा कोई महागज है। पूरब-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण हर दिशा में फुफकारती हुई अग्नि की ज्वालाएँ हैं, वे महागज को घेरती निकट आ रही हैं। ऐसे में इधर-उधर विकल दौड़ते गज को अचानक शीतल वारि से परिपूर्ण कोई सरोवर दिख जाए, तो उसे जो सुख मिलेगा, विश्रांति मिलेगी, वैसा ही सुख है वह।

धर्म के इतिहास में बुद्ध की भूमिका सद्धर्म के निर्देशक शास्ता के रूप में है। वे धर्म-चक्रवर्ती थे। बुद्ध का लोकोत्तर रूप बौद्ध साहित्य और कला में सक्रिय महाकल्पना के भीतर घोर पथहीन आरण्यक रात्रि में दिशा-निर्देश के लिए जलाई गई आग ही दहाड़ी के रूप में है। बुद्ध-स्तूपों की संरचना में यही अग्नि-प्रतीक प्रतिष्ठित है। दूर से दृश्यमान शिखर पर जलती हुई दिशा-निर्देशक अग्नि-स्तूप की तरह। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने स्तूप-संरचना की व्याख्या वैदिक प्रतीक परंपरा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के प्रकाश में की है और सच पूछिए तो और कोई पद्धति इतनी सटीक व्याख्या नहीं दे पाती है। बुद्ध वस्तुतः वैदिक परंपरा की अंतर्निहित दृष्टि का ही अनुपालन करते हैं। स्तूप बुद्ध का महास्वरूप है। यह बुद्ध को सौर या आग्नेय देवता के रूप में व्यक्त करता है। स्तूप के शिखर पर स्थित छत्र-मंदिर उदयाचल के ऊपर उगते सूर्य या अंधरात्रि में जलते अग्नि स्कंभ का प्रतीक है। सूर्य विश्वशक्ति है। वही 'द्यु' में 'सविता' है, अंतरिक्ष में 'आदित्य' है और पृथ्वी पर 'अग्नि' है। भारतीय प्रज्ञा सूर्य को इसी विश्व प्रतीक के रूप में पहचानती है और अग्नि को सूर्य का ही पार्थिव अवतरण मानती है।

वैदिक साहित्य में द्युमंडल के 'सविता' की सहस्र रश्मियों के पुंज को अंतरिक्ष स्थित 'महास्तूप' बताया गया है और इसे अग्नि से जोड़कर 'आंगिरस हिरण्य स्तूप' कहा गया है। बौद्ध स्तूप इसी भाव का नई शैली में प्रकटीकरण है। स्तूप के शिखर की बुद्ध-छत्रिका द्यु-लोक है। नीचे अर्द्ध अंडाकृति विराट् ब्रह्मांड या 'महापृथिवी' है, जिसे वैदिक साहित्य में 'द्यावा-पृथिवी' (पृथ्वी और अंतरिक्ष का युग्म) कहा गया है। वही बौद्धों की 'महापृथिवी' है, मरुत-प्रवाह और पर्जन्य-मंडल से युक्त पृथ्वी।

आधुनिक परिवेश-विज्ञान मनुष्य को यह अनुभव करा रहा है कि वह मात्र मानुष जगत् का जीव नहीं, वह सर्वभूतमयी वसुंधरा का ही जीव नहीं, बल्कि वह 'द्यावा-पृथिवी' या महापृथिवी का जीव है। स्तूप का धरती से जुड़ा हुआ अलंकृत शिल्पवाला अंश अपनी धरती का काम-लोक है, जिसपर जीवन के भवति प्रवाह को कल्पवल्ली, यक्षमूर्तियों और जातक कथाओं के शिल्पन द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

ऊपर का सादा गोलार्द्ध अंतरिक्ष और छत्रिका (छतरी) द्युलोक है; जिसमें धर्म-चक्रवर्ती बुद्ध प्रज्वलितं ज्योति की तरह स्थित हैं। लोक-मानस में यही प्रतीक पुराने जमाने में आरण्यक-पार्वतीय अंचलों में दिशा-निर्देश के लिए जलाई गई आग की दहाड़ी है। पर्वत या टीले पर जलती आग रात के सुनसान में भटकते पथिक को सही रास्ते का इशारा देती है। बुद्ध भी इस भवारवी या भवारण्य में सद्धर्म की पंथा के निर्देशक हैं। वे लोकोत्तर बुद्ध के रूप में एक सौर देवता के 'रूपकल्प' (पैटर्न) में कल्पित किए गए हैं। अतः वे द्युलोक के प्रकाशक सविता और पार्थिव मंडल की दिशा-निर्देशक अग्नि हैं। प्राणी-प्राणी जब आतुर और विकल हो, कामना का खांडव दाह यज्ञ चल रहा हो, भयावह रूप से मनुष्यत्व के क्षमा सुंदर रूप का ह्रास हो रहा हो, जब करुणा, दया, धर्म की बात घोषित राजधर्म और प्रजाधर्म में व्यंग्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विद्रूप का लक्ष्य हो गई हो, क्षमता और धन मनुष्य को क्षिप्त और विमूढ़ कर रहे हों, बुद्ध की यह बात कि आतुरों के मध्य अनातुर भाव से जिओ, वैरी जगत् के भीतर अ-वैरी भाव से जिओ, एक बहुत उच्चतर यथार्थवाद की अभिव्यक्ति है। ऋत धर्म के बीज इसी उच्चतर यथार्थवाद की गहराइयों में ही बोए जा सकते हैं, आधुनिक चिंतन के ऊसर में नहीं; जिसमें असमंजस, भटकाव और प्रश्नाकुलता ही चरम प्रमूल्य माने जा रहे हैं। ये ही आज की बौद्धिक संवेदना की श्रेष्ठता के लक्षण स्थापित किए गए हैं। जबकि असमंजस, भटकाव और प्रश्नाकुलता अपने प्रमूल्य हो ही नहीं सकते। हद-से-हद ये प्रमूल्यों के अनुसंधान की ओर उन्मुख मनोदशा मात्र हैं। प्रमूल्य और मनोदशा में, 'वैल्यू' और 'मूड' में प्रभेद ही हम भूल चुके हैं।

बुद्ध के शिष्यों ने, शंकराचार्य के शिष्यों की तरह ही, क्रतु-तत्त्व पर यानी कामना, त्याग और वैराग्य पर अनुपातहीन बल दे दिया। फलतः उनकी आविष्कृत मध्यम मार्गी 'ऋतस्य पंथा', उनके शिष्यों की विद्या के 'गहनतर एवं तीव्र आलोक के अंधे लोक' में पतित हो जाने से, जीवन के सहज प्राणधर्म के विपरीत होती गई। तत्कालीन वैदिक समाज का मन राग-दग्ध था, तो बुद्ध की परंपरा विराग-दग्ध हो गई। फलतः प्राणधर्म ने उसके इसी छिद्र से वज्रयान के रूप में उग्र काम का प्रवेश करा उसे निर्बीज कर डाला और इस भूखंड में बौद्ध धर्म का सर्जनात्मक व्यक्तित्व समाप्त हो गया।

'क्रतु' भाव का सहज प्राणधर्मी रूप इतिहास में विकसित हुआ है पौराणिक हिंदू धर्म के भीतर, जो वैदिक ऋषि के बोध को लोक-वेद में प्रचलित भाव-प्रतीकों के सहारे एक नई शैली में और कवि-भाषा में उपस्थित करता है। वैदिक धर्म साधना के बीज ऋषि मन में था तो इस नए रूपांतर के बीज कवि मन से उद्भूत हुए। वैदिक विद्या 'श्रुति' थी तो नई विद्या 'कृति' हुई। श्रुति देवता का प्रत्यक्ष दान है तो कृति अप्रत्यक्ष दान। इसका कर्ता मनुष्य होता है।

वाल्मीकि, व्यास और सूत परंपरा, इन तीनों में कोई पुरोहित नहीं था और जन्मतः ये कर्मकांडी ब्राह्मण परंपरा से नहीं आते। इस धर्म का उद्भव कवि की महाकल्पना में हुआ है। यह महाकल्पना विष्णु गाथा के सुपर्णों, नाराशंसी गाथा के चारणों और कथा-कथक सूतों के भीतर वैदिक युग से ही अपने अपौरुषेय यानी निर्वैयक्तिक रूपों में सनातन से चली आ रही थीं। धर्म के इस नए रूपांतर ने उन्हें प्रचलित कथाओं की पृष्ठभूमि से निकालकर मुख्य भूमि पर कवि-भाषा में स्थापित कर दिया और ये नई प्रस्थान भूमि के रूप में प्रामाणिक मान ली गईं। इस नए रूपांतर में इंद्र-वरुण-आदित्य-सोम की भूमिकाएँ अंतर्भुक्त हो गईं विष्णु में और प्रथम

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैदिक देवता अग्नि का रूपांतर हो गया रुद्र और अंबिका में। मरुतों, वसुओं, रुद्रों और अग्नि के सम्मिलित रूपांतर हैं शिव और उनकी शक्ति अंबिका। अंबिका ही दुर्गा, उमा, वैरोचनी, रोचना, चंडिका आदि रूपों में एक नई आग्नेय देवता है।

आधुनिक भारत की उपासना के तीन केंद्रीय स्वरूप हैं; जो क्रमशः विष्णु, शिव और अंबिका को केंद्र में रखकर विकसित किए गए हैं। 'मुंडकोपनिषद्' में वैदिक स्वाहा-स्वधा के अतिरिक्त अग्नि की अन्य सप्तजिह्वा रूपी ज्वालाओं की चर्चा है—'काली, कराली, मनोनवा, लोहिता, धूम्रवर्णा, स्फुलिंगिली और विश्व-रोचना'। ये सप्त ज्वालाएँ ही लोक-परंपरा की दुर्गा की सात बहनें हैं और पौराणिक परंपरा में इनके विविध रूपों का विकास हुआ है। कुछ की पहचान तो स्पष्ट है—काली, कराली (उग्रतारा), लोहिता (अरुणा), धूम्रवर्णा (धूमावती)। 'रोचना' अर्थात् 'प्रकाशिका ज्योति' दुर्गा का एक पर्याय है। यह संभवतः हिंदू-ईरानी शब्द है—रोचना—'रोशनी' (फारसी)। 'वैरोचनी' या 'विरोचना' का अर्थ है स्फुलिंग छिटकाती हुई ज्वाला। इन सारे अग्नि-बिंबों ने लोकायत परंपरा की कल्पना में तरह-तरह के रूप ले लिये हैं। ये यज्ञकुंड की अग्निशिखा के ही सहचारी रूप हैं।

लोक-मानस आदिमकाल से ही अग्नि के प्राणदायक और ऊर्जस्वित् रूपों के साथ-साथ इसके मारक रूपों यथा दावानल और जठरानल से परिचित रहा है। आवास कक्ष के दीपक और रसोईघर का चूल्हा गृहस्थ-जीवन की उजियारी है।

आरण्यक जनजातीय संस्कृति में भी अग्नि की अनिवार्य भूमिका रही है। जनजातीय संस्कृति का रूप कल्प ही एक छंदोबद्ध नृत्य है। सूर्योदय से सूर्यास्त तक मृगया के पीछे भाग-दौड़ उसका 'स्थायी' है और शाम को शिकार भूनने के बाद रात्रि में मधु पीकर दिवस की उद्दामता का जलती अग्निशिखा के चारों ओर पुनः द्रुत उल्लास-छंद में नर्तन उस जीवन की 'अंतरा' है। 'स्थायी' और 'अंतरा' दोनों को मिलाकर उनके दैनिक जीवन का नृत्य पूरा होता है। अग्नि उनका प्रहरी है, रक्षक है; साथ-ही-साथ आक्रामक शत्रु और संहारक देवता भी। अग्नि ही जंगल जलाता है। पर जंगल जलाकर नीचे की भूमि को खेती के योग्य बनाता है। उसी भस्माच्छादित भूमि को बरसात में गोड़कर वे 'झूम' की खेती करते हैं। अतः वे भी उसकी संहार लीला के पीछे प्राण-सृजन की भूमिका का वैसे ही अनुभव करते हैं जैसे वैदिक ऋषि करता था। महाभारतीय समन्वय पद्धति में अनेक जनजातीय देवी-माताओं का समाहार वैदिक अंबिका के आर्ष रूपों—शिवानी, भवानी, कालिका और दुर्गा में हो गया है।

शिशिर की हिम शीतल रात्रि। तुषाराच्छन्न आकाश, शीत-विवर्ण रात्रि। ऐसी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ठंडी और सिकुड़न-भरी रातों में आरण्यक जन, वनवासी जातियों के जन-समूह तथा मैदानी इलाकों के मेषपाल गण अपने ढोर-डंगर के साथ बाग-बगीचे या झोंपड़े में सोते हैं। वे रातें गुजार देते हैं, मात्र एक वस्त्रखंड ओढ़कर, सिरहाने या बगल में अलाव यानी अग्निकुंड (भोजपुरी 'कउड़') जलाकर, उसकी अग्नि से ही 'उम' पाकर। कभी-कभी खेतों में ऐसे सुनसान एकांत वातावरण में उनके अलाव जल उठते हैं और रात्रि के धुंध में लाल-लाल अरुण-शिख़ा फूट उठती हैं, अग्नि अरुण चूड़ पंछी-सा पंख फड़फड़ाने लगता है। वे आरण्यक, वे वनवासी, वे मेषपाल जन इसी 'उम' के सहारे जाड़ा काट देते हैं—'गया माघ दिन उनतीस बाकी'। शायद अलाव में जलती आग का 'उम' उनके ठंडे कलेजे में घुसकर भावी वसंत का कुंकुमवर्णी सूर्योदय पैदा कर देता है, क्षण-भर के लिए गरम-गरम उल्लास के भीतर उनका पथराता हुआ कलेजा, उसके संपुटित प्राण थरथरा जाते हैं और उसी 'उम' के नशे में वे सो जाते हैं और रात कब खत्म हो गई, यह जान नहीं पाते। उठते हैं तो देखते हैं कि 'उम' का सहोदर भाई सूर्य और धुंध के बीच ठन गई है और किरणों के बाण छूट रहे हैं। यह 'उम' भोजपुरी भाषा का शब्द है। अर्थ है ऊष्मा या ताप। इसीसे 'उमस' शब्द निकला है। पर 'उम' गरमी का उल्लासमय अनुभव है और 'उमस' अवक्षयी पंकिल-पसीने-भरी गरमी का।

भोजपुरी में एक शब्द है 'उम्मी'; यानी कच्चे भुट्टे या गेहूँ-जौ की बालों का लपट पर भुना दाना। यह 'उम' शब्द पूर्वांचल में खूब चलता है। यह समस्त पूर्वी भारत का ग्रामीण शब्द है। डॉ. सुकुमार सेन की धारणा है कि यह शब्द किसी आर्येतर जनभाषा से आया है। उन्होंने 'उमा' (पार्वती) शब्द की व्याख्या में इस अर्थ का उपयोग भी किया है। संभवतः भगवती का 'उमा' नाम भी यक्ष या नाग जनभाषा से ही आया है और यह वैदिक संस्कृति के अंतिम चरण में घटित हुआ है।

'केनोपनिषद्' में हैमवती 'उमा' को महायक्ष की विद्या शक्ति बताया गया है। पुराणों ने इस नाम को कथात्मक भंगिमा देने के लिए 'ओ मा!' (अरी, मत तप करो!) की कल्पना कर ली है। परंतु 'उमा' शब्द का रहस्य वही स्वाभाविक लगता है जिसका इंगित डॉ. सुकुमार सेन ने दिया है। उमा ही दुर्गा शक्ति है, आग्नेय रुद्र की सहचरी है। जब दुःख, चिंता और भय के भीतर मनुष्य के धैर्य में बिखराव आता है, वह भीतर-भीतर टूटने लगता है, लगता है कि अब सब गया, उस समय यही शब्द 'धरहर' करता है, आहत करनेवाली शक्ति का हाथ पकड़कर मरोड़ देता है। अग्नि की तरह दुर्गा भी रक्षा शक्ति है।

उमा, शिवानी, शर्वाणी, फिर कौशिकी दुर्गा। इनके परस्पर संबंध की व्याख्या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पुराण देते हैं। कहते हैं कि उमा पहले काली थी। शिखरवासिनी श्यामली कन्या। अमावस्या रूपिणी इस काली कन्या ने तप किया कि वह पूर्णिमा रूपिणी त्रिपुर सुंदरी बन जाए। वह कैलाश से उतरकर उज्जयिनी आ गई, जो भारतीय गणना के अनुसार काल की मुख्य मध्याह्न रेखा पर स्थित है। यह तप सुंदर रूप पाने के लिए था। पितामह परमेष्ठी से वर पाकर श्यामल त्वचा का देह कोश बाहर गिर पड़ा और भीतर से पद्म वर्ण की 'अरुणा वरुणा तरंगिताक्षी' कन्या रूप बाहर निकल आया। वह स्खलित देह कोश भी पार्वती वपु ही था, जो जाग्रत चैतन्य से संपन्न था। अतः वही हो गया कौशिकी दुर्गा। 'कोश' से उत्पन्न, अतः 'कौशिकी'। यह कौशिकी ही शिवानी दुर्गा है।

भारतीय चिंतन पद्धति मिथकीय और प्रतीकधर्मी है। अतः 'कोश' शब्द को पकड़कर एक मिथ रच दी गई है। प्रंतु मुझे लगता है कि 'कोश' मूलतः 'कोस' है (एक अन्य निबंध में भी मैंने इसे दिखाया है) और इसका एक उच्चारण 'कोच' है। पूर्वी भारत में 'च' का उच्चारण 'स' होता है। 'कोच' (कोस) एक व्यक्तित्व संपन्न जाति है जो उत्तर बंग और असम में निवास करती है। ग्वालपाड़ा की नदी 'सोन कोस' (सोङ् कोच) तथा पूर्वी बिहार और बंगाल की नदी 'कोसी' की संज्ञाओं में इस जाति-नाम का संकेत है। ये पीतवर्ण किरात वंशीय हैं और कौशिकी दुर्गा का पीताभ अग्निवर्ण भी किरात-वर्ण ही है। 'विद्युद्दाम सम प्रभां मृगपति स्कंध-स्थितां भीषणाम्'—ध्यान श्लोक का स्वरूप श्यामल त्वचा का संकेत नहीं देता है। लगता है कि यह हिरण्यवर्णी दुर्गा पूर्वी भारत की किरात जनजातियों की ही देवी थी। अखिल भारतीय संहति और समन्वय की प्रक्रिया में यह आर्ष अंबिका के भीतर समायोजित हो गई है और उसकी अवधारणा को ब्रह्मविद्या से गर्भित करके उसकी उपासना को परमाप्रकृति की आगम विद्या का अंग बना लिया गया है।

एक गीत चल रहा है। गंगा-गोमती-सरजू-सदानीरा के ग्रामांचलों से नारी कंठ से निकला गीत। शताब्दी-दर-शताब्दी चलनेवाला गीत। अपौरुषेय गीत। अविराम गीत। जो सुन पाता है, सुन पाता है। सभी के कान तो दीक्षित नहीं होते। सभी के नयन तो खुले नहीं होते। पर जो चाहे वह सुन सकता है, जो चाहे वह देख सकता है। कहीं कोई बाधा नहीं। यदि कोई बाधा है, तो अपने भीतर के अहंकार की है। तो वह गीत चालू है। मन के भीतर स्मृति में इसकी 'टेप' बज रही है। टेक है—'मइया लेहलू बसेरवा परबत पर ना!' (माँ, तूने पर्वत शिखर पर अपना बसेरा बना लिया!)। संस्कारी चित्त इसमें अर्थ पकड़ता है—'उमा मूर्ध्नि व्यवस्थिता'। मूर्धा (मस्तिष्क) में बैठी उमा निरंतर तप कर रही हैं और हमारे सारे मानस-प्रवाहों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को व्यवस्थित और नीरुज करती रहती हैं। पर संस्कारी चित्त की बात मैं यहाँ पर नहीं कर रहा हूँ। यह गीत सहज और सरल हिंदुस्तानी लोककंठ का गीत है।

'माँ, तूने पर्वत की अगम दुर्गम चूड़ा पर वास ले लिया। इस दुर्गम आकाशी पथ पर कैसे चढ़ूँ! माता, तुम हाथ पकड़कर आरोहण करा दो।'

'माँ, तूने घोर अरण्य में वास ले लिया है। रास्ते में सिंह गरजता है, साँप फुफकारता है!'''माँ, तूने कदंब वन में बसेरा ले लिया। बीच में अगम-अथाह यमुना जल है। मकर-घड़ियाल मुँह फाड़-फाड़कर प्रकट हो रहे हैं'''!'

यह भय और अभय की संवेदनाओं से गुँथा हुआ गीत है, जिसे बीस वर्ष पूर्व विंध्याचल के मंदिर पर वनवासी निषाद नारियों के कंठ से सुना था। आज तो बस टेक ही याद है और अर्थ मात्र स्मरण है। बोल ठीक-ठीक याद नहीं। जाँबाज लठैत भगवती पंडा, जो मेरे तीर्थ पुरोहित हैं, उन्हें घुड़कते हुए मेरा रास्ता साफ करते हुए चल रहे हैं और पीछे-पीछे मैं नारियल, फूल, बेल आदि अंजलि में लेकर चल रहा हूँ। कान रुकना चाहते हैं, पर पैर पंडाजी के आदेश का द्रुत गति से अनुगमन कर रहे हैं। इस आपाधापी में मन जितना बटोर पाया, बटोर लिया। वही मेरी आंतरिक ऋद्धि बन गया। उतने से ही आज तक धन्य हूँ।

विंध्य की महादेवी का उपासना-प्रतीक है छत्र-चामर, शृंगार और दर्पण। छत्र-चामर देवी के प्रताप-ऐश्वर्य का प्रतीक है, शृंगार अनुग्रह का और दर्पण शोभाश्री का। ऐश्वर्य, करुणा और रूप का समन्वय है यह देवी-मुख, जिसे हम उसकी प्रस्तर आकृति में नहीं, बल्कि अपने ध्यान-लोक में ही लब्ध कर पाते हैं। मेरी धारणा है कि इस 'विंध' या 'विंध्य' शब्द के मूल में 'वृंद' है। 'वृंद' अर्थात् जनसमूह या गण या ट्राइब। वैसे इस क्षेत्र में निषाद नस्ल की एक जाति 'बिंद' भी रहती है। भर, मल्लाह, बिंद, कहार, बारी आदि जातियाँ निषाद नस्ल के ही अंतर्गत आती हैं और ये ही पूर्वी उत्तर प्रदेश की नींव-संस्कृति रचती हैं। विंध्य की महादेवी इनकी ही देवी है, जो आज गंगा तट के काली खोह में है और आज भी इसका पुरोहित मल्लाह है। यही विंध्यारण्य की वन दुर्गा है।

पुराणों के कवियों ने संभवतः 'वृंद' शब्द के आधार पर वृंदावन की योगमाया को भी यहाँ स्थापित कर दिया, जो गिरिशिखर पर विद्यमान है। यह दूसरा कोण हुआ। ये दोनों कोण परस्पर एक रेखा बनाते हैं और ये देवी के दो आगम रूप हैं। ये तीसरे कोण से जुड़ते हैं, नगर स्थित मुख्य मंदिर के विग्रह से, जो निगम आश्रित ब्रह्मविद्या की प्रतीक महामाया-मूर्ति है। सभी कहते हैं कि विंध्यवासिनी दुर्गा का संपूर्ण विग्रह यह त्रिकोण ही रचता है। देवी सृष्टि उद्भव की त्रिकोण योनि है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सत्-रज-तम या ज्ञान, इच्छा और क्रिया का त्रिकोण व्यक्त करती है यही मूर्ति। आगम की भाषा में सूर्य, चंद्र और अग्नि इस त्रिकोण के बिंदु रचते हैं। यह भारतीय भूखंड भी आसेतु हिमाचल एक त्रिकोण भूखंड है।

इस देश की सांस्कृतिक प्रतिभा ने इसके प्रत्येक रूप कल्प को अखिल भारतीय संहति को दृष्टि में रखकर ही गाँथा है। परंतु कुछ लोग इस अंतर्ग्रंथन को ही अपने मार्ग का सबसे बड़ा रोड़ा मान रहे हैं, तो यह वैसा ही आश्चर्य है जैसाकि युधिष्ठिर ने यक्ष को बताया था।

अखिल भारतीय संहति-रचना में जब पार्थिव मंडल की अग्नि अर्थात् वैदिक रुद्र सर्वजातीय देवता 'शिव' बने तो उनकी सारी पत्नियों का, सारी शिवानियों का मीहरवाला नाम-गोत्र अपने आप समाप्त हो गया। विविध जनजातीय अंबिकाएँ इस बृहत्तर परिचय में अपना पुराना नाम-गोत्र विलीन कर अंतर्भुक्त होती गईं। यह एक प्रगतिशील कदम था। क्षुद्र जातीयता या क्षुद्र राष्ट्रीयता की डेढ़ चावल की खिचड़ी पकाने की तुलना में बृहत्तर मानसिक उत्तराधिकार का अंग बन जाना श्रेष्ठतर की ओर आरोहण है। इन देवियों का नया परिचय गढ़ने के लिए प्रतीकीकरण और मिथकीकरण का मार्ग अपनाना भी युक्तिसंगत था। ये जनजातियाँ, ये आरण्यक और पार्वत्यजन समूह भी अग्नि के उपासक थे और अग्नि इनका भी सहचर, हमदर्द और देवता था।

वैदिक अग्नि-उपासना अर्थात् यज्ञ का औपचारिक अवशेष है हवन-कर्म। यह आज भी चालू है। पर यह औपचारिक कड़ी मात्र है। असल प्रतीक का तो मिथकीकरण हो गया है दुर्गा रूप में, जो सगुण उपासना की पद्धति में खप सकती है। इस दुर्गा शक्ति के ही विविध रूप नदी-नदी के बाँक या मोड़ पर, शिखर-शिखर पर, ग्राम-ग्राम में अपने पूर्व जनजातीय पीठों पर स्थापित हैं और यही आज भी त्रिशूल उठाकर रन में, वन में, व्याधि-विपत्ति में, चाँड़ में, संकट में अभय का आश्वासन देती है। 'देवी अथर्व शिरस्' का कथन है—'वही देवी, महादेवी, शिवा, महा प्रकृति और भद्रा है। वही तप से प्रज्वलित अग्निवर्णा, चारों ओर स्फुलिंग विरोचित करती हुई 'वैरोचनी' दुर्गा है। वही कर्म फल को प्राप्त कराती है, ठीक वैसे ही जैसे यज्ञ-शिखा की आहुति कर्म फल प्राप्त कराती थी। वही अदिति है, अदिति-माता है, देव-माता है। वही महालक्ष्मी है और षोडश अक्षरोंवाली श्रीविद्या है।'

□

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कुब्जा सुंदरी

…मैं…बीसवीं शती के अंतिम दशक का मनुष्य विकल-विह्वल किसी देवशिशु के अवतरण की अशब्द प्रार्थना कर रहा हूँ। मुझे लगता है कि वह अवश्य आएगा और मुझे पीछे ठेलकर सामने स्वयं खड़ा हो जाएगा और सारी ज्वालाओं को गटागट पी जाएगा।…आँखें खोलकर तो यथार्थ ही पढ़ा जाता है; परंतु आँखें मूँदकर सत्य भी पढ़ा जा सकता है। आधुनिक साहित्यकार की 'ट्रेजडी' यही है कि वह पेट के बल यथार्थ से बुरी तरह चिपका हुआ रेंगता चल रहा है और परा यथार्थ सत्य से उसकी भेंट नहीं हो पाती। उसके पास आँखें मूँदकर आराम से देखने-सुनने की फुरसत कहाँ! फलतः वह विश्वास ही नहीं कर पाता कि यथार्थ और सत्य दो तरह की बातें हैं।…

हमारे दरवाजे की बगल में त्रिभंग मुद्रा में एक टेढ़ी नीम खड़ी है, जिसे एक राह चलते वैष्णव बाबाजी ने नाम दे दिया था—'कुब्जा सुंदरी'। बाबाजी ने तो मौज में आकर इसे एक नाम दे दिया, रात-भर हमारे अतिथि रहे, फिर 'रमता योगी बहता पानी'। बाद में कभी भेंट नहीं हुई। परंतु तभी से यह नीम मेरे लिए श्रीमद्भागवत का एक पन्ना बन गई। इसके वक्र यष्टि छंद में मुझे तभी से एक सौंदर्य बोध मिलने लगा। वैसे भी यह है बड़े फायदे की चीज। अपने आप उगी, बिना किसी परिचर्या के बढ़ती गई, पौधे से पेड़ बन गई और अब मुफ्त में शीतल छाँह देती है; हवा को शुद्ध और नीरोग रखती है; हजार किस्म के रोगों के लिए उपचार-द्रव्य के रूप में छाल-पत्ती, फूल-फल और तेल देती है; पशु और मनुष्य के रोगों से जूझती है। सबसे बढ़कर सुबह-सुबह राम-राम के पहर दातून के रूप में मुँह साफ करती है। बाद में मैं अपना मुँह गंदा करूँ या अश्लील करूँ, तो यह बेचारी क्या करे! इसकी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भूमिका वैष्णवता के उस साफ-सुथरे संस्करण की है, जिसे संत कबीर ने अपनाया था। वैसे तो संत और भक्त में मैं कोई खास प्रभेद नहीं मानता। संत 'हंस' है तो भक्त 'मराल'। नाम का ही फर्क है। बात एक ही है। संत और भक्त की मूल प्रकृति एक ही होती है। दोनों ही वैष्णव हैं।

अब राजनीति उन्हें वाद-प्रतिवाद के रूप में रखे तो रखे, 'दाख छुहारा छाँड़ि अमृत फल विष-कीरा विष खात'। अपना-अपना स्वाद है। परंतु हिंदुस्तान का किसान मन उन्हें एक ही मानता है। वैसे तो फागुन-चैत में यह नीम भी वृंदावनी साज-शृंगार ले लेती है; पर महज एक ऋतु के लिए। फागुन में इसके पत्ते झड़ने लगते हैं। वैराग्य की उदासी का अपूर्व पीतवर्णी शांत रस इसपर उतरता है। फिर चैत चढ़ते ही नरम टूसे और पत्तियाँ जीवन तथा यौवन की कविता की तरह फूटने लगती हैं। देखते-देखते ही वृक्ष शोभायमान हो उठता है और इसके नाम से जुड़ा 'सुंदरी' शब्द तभी सार्थक लगता है। फिर रात में नन्हे-नन्हे सुगंधित पीतगर्भी श्वेत फूलों की मंजरियाँ लग जाती हैं। पतझर की पीली अपर्णा उदासी से लेकर निर्मल चाँदनी में स्नान करती वासंती रातों की सुगंध तक यह नीम कविता-ही-कविता है। प्रति संध्या को प्रत्येक डाल चहचहाहट से भर उठती है। पेंपा, गौरैया, सुग्गे और एकाध कौए भी इसपर रैन बसेरा लेते हैं। तब गंध और गान से इसका विश्व रूप प्रत्यक्ष हो जाता है। चाँदनी रातों में तो यह 'देवी-यान' बन जाती है। लोग कहते हैं कि सबकी नजरों से अदृश्य पार्वती की सातों बहनों का रथ आकाश से उतरता है और नीम की डाल पर पार्वती की सातों बहनें एकांत में झूला झूलती हैं—मनुष्य चक्षुओं से अदृश्य वसंतकालीन रातों में। भोजपुरी लोकगीतों में यह विश्वास बार-बार व्यक्त होता है भयमिश्रित श्रद्धा के साथ। वैद्यों-डॉक्टरों की वात्सल्यमयी माँ यह वसंत ऋतु नन्हे-नन्हे बच्चों के लिए चेचक का उपहार लेकर आती है (असम, बंगाल में तो 'वसंत' का एक अर्थ 'चेचक' भी होता है) और चेचकग्रस्त शिशु के सिरहाने नीम की पतली कंछियाँ रख दी जाती हैं। अतः उत्तर भारत में यह कटु-तिक्त नीम भी 'देवी-तरु' मानी जाती है—'नीप' या 'कदंब' की तरह। 'नीम' और 'नीप' में एक अक्षर का ही अंतर है, तो भी दोनों का व्यक्तित्व भिन्न है। 'नीप' अर्थात् कदंब त्रिपुर सुंदरी का वृक्ष है तो 'नीम' शीतला का। आधी रात को 'नीप' के कुंजों में गंधर्वों की बाँसुरी बजती है, तो आधी रात को 'नीम' की डाल पर देवी की सातों बहनों की चूड़ियाँ खनकती हैं। इस नीम का एक कुहकी रूप है 'महानिंब' या 'बकायन', जिसके पत्ते भी नीम की तरह सींकों पर लगते हैं और ये पत्तियाँ कटु-तिक्त नहीं होतीं तथा अपने द्रव्य-गुण के कारण दक्षिण भारत में तेजपात की तरह इसका प्रयोग

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होता है। वहाँ इसे 'गौरी नीम' भी कहते हैं। पर उत्तर भारत में 'बकायन' का उल्लेख शबर मंत्रों में 'अकाइन बकाइन लोना चमाइन' के रूप में होता है। अतः यह वृक्ष लोक की भयमिश्रित श्रद्धा का पात्र है और बाग-बगीचे के एकांत कोने में ही लगाया जाता है। बस्ती के भीतर इसका प्रवेश नहीं। परंतु कटु नीम तो रास्ते-चौरस्ते और आँगन की शोभा है—नीरोग छाँह, शुद्ध पवन और मनसायन कलरव। एक ग्राम कथिका है—'निबिया रे करुआइन तबो सीतल छाँह, भइया रे बिराना, तबो दाहिन बाँह'। यानी नीम कटु होने पर भी शीतल छाया देती है और दूर के रिश्ते का भाई भी अपनी बाँह होता है।

उत्तर भारत में नीम भले ही लोक विश्वास में 'देव तरु' माना जाता हो, शास्त्र में इसे मात्र भैषज्य तरु की ही महत्ता है। उड़ीसा में नीम को 'ब्रह्मदास' की संज्ञा मिली है। वह शायद इसलिए कि उत्कल के महादेवता जगन्नाथजी का कलेवर यानी मूर्ति नीम काष्ठ से ही बनती है और प्रति द्वादश वर्ष के बाद उसका 'नव यौवन' अर्थात् 'नवीनीकरण' किया जाता है। इस नव कलेवर उत्सव को 'नव यौवन उत्सव' कहते हैं। मैंने पहले-पहल इस बात को आज से पैंतीस वर्ष पूर्व कलकत्ता में अपने मित्र वनमाली गोस्वामी से सुना था। उन्होंने जब कहा, 'इस बार जून-जुलाई में पुरी जा रहा हूँ नव यौवन दर्शन करने।' सुनकर मैं तो चमत्कृत हो गया और अपनी तत्कालीन भंगिमा और भाषा में मैंने पूछा था, 'यार, इस कलकत्ता में नव यौवन का अकाल पड़ा है क्या कि उत्कल देश को आपकी आँखें पवित्र करने को तुली हैं?' उन्होंने मेरे अज्ञान का तत्काल निवारण करते हुए असल अर्थ बताया और आगे भी बताया कि उड़ीसा के लोग इस नीम को अत्यंत पवित्र मानते हैं और इसकी संज्ञा 'दारु ब्रह्म' है। यदि वेदव्यास उड़िया होते तो वे 'गीता' में अवश्य कहला देते 'वृक्षाणां निम्बोस्मि'। वस्तुतः हिंदुस्तानी मन जीवन को प्रकृति और ईश्वर से जोड़कर देखता है। उसके मन में जो कुछ उपयोगी और रसमय है, वह सब अपने आप ईश्वर से जुड़ जाता है। वनमाली थे उड़िया ब्राह्मण, परंतु गौड़ीय वैष्णव मत को मानते थे। उनसे मैंने वैष्णवों की अनोखी शब्दावली का थोड़ा-बहुत ज्ञान भी अर्जित किया था। उदाहरण के लिए वैष्णव लोग खाना तो खाते ही नहीं, भोजन भी नहीं करते, 'प्रसाद' ग्रहण करते हैं। 'भात' को 'अन्न' कहते हैं, दाल को 'रसम्', 'तरकारी' शब्द का उच्चारण किया कि सीधे नरक में चले गए। अतः इसे 'शाक' कहते हैं। उनमें खीर के लिए 'परमान्न' और पुलाव के लिए 'पुष्पान्न' चलता है। भोजपुरी लोगों की दालपूरी के लिए 'राधा व लक्ष्मी' और गाजीपुरी सत्तू-बाटी के लिए 'मुकुंदी'। मुझे सबसे अद्भुत लगा उनके रसशास्त्र का 'अभियोग' शब्द। हम तो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जानते थे कि 'अभियोग' माने होता है मुकदमा और 'अभियुक्त' माने अपराधी; परंतु उनके शास्त्र में प्रेमी या प्रेमिका द्वारा एक-दूसरे को आकर्षित करने के तरीके को 'अभियोग' कहते हैं। जैसेकि नायिका बाग-बगीचे में जा रही है, जो अकसर वैष्णव कविता में जाती है, वहीं नायक दिखाई पड़ गया तो उसे दिखाकर एक नरम कच्चे किशलय अथवा पल्लव को दाँत से काटना या नायक द्वारा अपने साथी को नायिका को दिखाकर किसी फल को देना जैसी इशारेबाजियाँ 'अभियोग' हैं।

आप कहेंगे कि कड़वी नीम के संदर्भ में भारत की मधुरतम रस-परंपरा की यह चर्चा करना अनर्गल है। ये चर्चाएँ तो कदंब-तमाल के संदर्भ में होनी चाहिए। परंतु 'वयः कैशोरकं ध्येयम्' यानी 'वयस में किशोरवय ही आराध्य है' की घोषणा करनेवाले माधवेंद्र पुरी के प्रशिष्य थे महाप्रभु चैतन्य, जिन्होंने अपनी साधना का केंद्र 'राधा' को ही बनाया। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि इस राधा-उपासना के आदि प्रवर्तक अपने कलिकाल में निंबार्काचार्य ही माने जाते हैं। तो यह कटु नीम इस रस-परंपरा के आदि गुरु के नाम से जुड़ी है और राधा-माधव के परम प्रिय 'करील' से तो लाख दर्जे सुंदर और आकर्षक है। करील, कदंब और तमाल को जिन्होंने कभी नजदीक से देखा न हो, उन्हें कोई धोखा दे, उनके बाह्य रूप-रंग में 'नाम बड़े, दर्शन थोड़े' वाली बात ही है। नीम फागुन, चैत, बैसाख तीन महीने पूर्वराग-राग-महाराग के प्रतीक किसी भी महीरुह से शोभा और शृंगार में मुकाबला कर सकती है। करील में तो काँटे-ही-काँटे हैं। उससे खूबसूरत तो अपने खेत-खलिहान का बबूल है। ग्रीष्म आते ही यह चटक पीले फूलों से ढक जाता है तो उन काँटों के बावजूद उसे मानना पड़ता है। कदंब का पेड़ शीशम की तरह ही लंबा-छरहरा होता है; पर बड़े-बड़े पत्ते होते हैं पलाश की तरह। फूल कंदुक यानी गेंद की तरह बड़े-बड़े। इनमें दल नहीं होते। जीरे या पराग सूत्रों से गठित सघन-पुष्प कंदुक। हलका हरित-पीत वर्ण। कोई सौंदर्य नहीं। परंतु इनकी सुगंध बड़ी मादक और मीठी होती है। कदंब की असल खूबी है इसकी मीठी-मादक गंध और इसकी शाखाओं या कोटरों से चूती हुई 'नीरा', जिसे 'कदंब मधु' कहते हैं। हिमालय के निचले भागों में, जहाँ किरातों की गंधर्वशाखा रहती थी, ये पेड़ बहुतायत से मिलते थे। वारुणी और मादक सुगंध के कारण तथा पावस ऋतु में पुष्पित होने के कारण यह पेड़ गंधर्व संस्कृति से और कामदेव से जुड़ गया। फिर बाद में यमुना तट पर आरण्यक रूप में उपस्थित होने के कारण 'साक्षात् मन्मथ-मन्मथः' श्रीकृष्ण की महाराग-लीला का अनिवार्य अंग बन गया। यह त्रिपुर सुंदरी का भी परमप्रिय वृक्ष बना इसी वारुणी गंध और गंधर्व संस्कृति के कारण। वैसे भी मैं मानता हूँ कि नीम

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मूलतः उपयोगी भैषज्य तरु ही है। परंतु रूप-गंध-सुषमा-सौंदर्य से यह एकदम रिक्त भी नहीं है। अतः इसके संदर्भ में रस-चर्चा की बात बिलकुल अनर्गल हो, ऐसी बात नहीं।

राधा की चर्चा तो सभी करते हैं, पर कुब्जा की चर्चा प्रायः नहीं होती। किसी ने की भी तो गोपियों के मुँह से खरी-खोटी का लक्ष्य बनाकर ही। परंतु कुब्जा की ओर से शायद ही कोई जवाब देने जाता है। वैसे 'ग्वालकवि' ने मथुरा निवासी होने के कारण ही शायद 'कुब्जाष्टक' लिखकर पड़ोसी का कर्तव्य-पालन अवश्य किया है और गोपियों की कटूक्तियों का 'सौ सुनार की न एक लोहार की' शैली में कुब्जा सुंदरी का प्रत्युत्तर व्यक्त किया है। कुब्जा कहती है कि 'वे बेहया गोपियाँ मुझे क्या कहेंगी! कहीं चलनी भी सूप पर हँस सकती है? बनन में, बागन में, यमुना किनारन में, खेतन में, खरान में, खराब होती डोली वै। मैं तो उनसे लाख दर्जे अच्छी हूँ।' इस शताब्दी के प्रारंभ में एक बार द्विवेदी युग के प्रसिद्ध व्रजभाषा कवि पं. नवनीतलाल चतुर्वेदी का आगमन बनारस में हुआ और तत्कालीन काशिराज ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह ने, जो स्वयं भी कवि थे, उनसे आग्रह किया, 'चौबेजी, हमें लगत हौ कि कुब्जा के साथे व्रजभाषा के कविन द्वारा न्याय नाहीं हुआ है। अब आपै कुछ कृपा करौ।' महाराज ने तो मौज में आकर बात कह दी थी; परंतु चतुर्वेदीजी ने दूसरे ही दिन 'कुब्जा-पचीसी' लिखकर महाराज के सामने प्रस्तुत कर दी। कुब्जा की ओर से दिए गए एक-से-एक धाँसू जवाब। बानगी देखें, कुब्जा उद्धव द्वारा लाए गए कटु-तिक्त संदेश के उत्तर में कहती है—

'गोबर की डलिया सिर लै
कब गायन में हम जाति हैं रूँधन।
त्यों 'नवनीत' दुहावन के मिस
द्वार किवार दिए कब मूँदन।
कौन दिना बन बीच कही
'हरि कामरि लाइ बचाइयों बूँदन।'
उद्धव और कहा कहिए,
कब खोलि दिए, फरियान के फूँदन॥'

इसमें 'फरिया' शब्द से पूरबवाले शायद परिचित न हों। पहले जमाने में अंतर्वास के रूप में मर्द जाँघिया पहनते थे और नारियाँ 'फरिया', जो घाघरे के नीचे रहती थी। राजपूत चित्रकला में यह लक्ष्य किया जा सकता है। जाँघिया जाँघों तक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही रहता है, पर फरिया पूरी टाँग को ढकती है। शेष तो बड़ा ही स्पष्ट है। परंतु एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जिस समय नवनीतजी ने इस रचना के छंदों को लिखा था, वे पूर्णतः नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। बहुत बाद में, छियालीस वर्ष की अवस्था में, अपने गुरु के बहुत आग्रह करने पर उन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। वैष्णव धर्म में, विशेषतः पुष्टिमार्ग में गृहस्थाश्रम को ही सर्वोच्च महत्त्व दिया गया है। यदि कोई आधुनिक आलोचक अपने फ्रॉयड युग के ज्ञान का इसपर आरोपण करे और उसके जीवन के बारे में कोई कुकल्पना करे तो अपनी शोध की कलम ही गंदी करेगा। वैष्णव संस्कृति में प्रशिक्षित मन इस बात को भलीभाँति समझता है कि ये सब 'राधा-गोविंद सुमिरन' के बहाने हैं। इनका क्रियात्मक अर्थ शैली और भंगिमा तक ही सीमित है। ये सब मध्यकालीन वैष्णव काव्य रूढ़ियों का अनुगमन मात्र है। ठीक वैसे ही जैसे आज की आधुनिक जनवादी कविता के अद्भुत जुझारू तेवर हैं। सूर के 'हों पतितन को टीको' या तुलसी के 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' के आधार पर उनके जीवन की व्याख्या करना घोर मूर्खता है और वैष्णव साहित्य की परंपराओं से घोर अपरिचय का द्योतक है। केलि-वर्णन और दैन्य-निवेदन के पदों को उनके सांस्कृतिक एवं शास्त्रीय संदर्भ में देखना ही सही ढंग से देखना है।

एक बार मैंने एक भागवत मर्मज्ञ पंडित से इस कुब्जा-तत्त्व की चर्चा की थी तो उन्होंने बताया था कि कुब्जा वस्तुतः धरती का प्रतीक है और उसका कृष्ण-प्रेम पार्थिव स्तर तक ही सीमित था। दैहिक प्रेम से ऊपर उठकर महाभाव में प्रवेश करने की वह अधिकारिणी नहीं थी। इसीसे प्रेम की अपार्थिव ईश्वरीय लीला की वह सहचारिणी नहीं हो सकी। श्रीमद्भागवत एक 'रहस्य काव्य' है और सारे रहस्य काव्य प्रतीकों की भाषा में ही मुखरित होते हैं। गहन-गंभीर बोध को वैखरी के स्तर पर उतारने के लिए अन्य कोई साधन ही नहीं। निर्गुण लीला में तो यह बात स्पष्ट है ही, सगुण लीला में भी यही बात है; क्योंकि 'चरित' जब दिव्य लीला के रूप में उतरता है तो 'रहस्य' व्यक्त करता है और 'रहस्य' की भाषा ही है प्रतीक भाषा। रासलीला की बात लें। आर्यसमाजियों से लेकर आज के नवशिक्षित तक, सभी के तेवर इसपर अग्निवर्षा करते हैं; परंतु रास क्या कोई 'स्थूल' घटना है? वृंदावन की लोक-संस्कृति में रास-नृत्य की प्रथा सदैव से है। उसको श्रीमद्भागवत ने एक सृष्टि के निरंतर चालू भवति-प्रवाह के वृत्ताकार रूप का प्रतीक बना दिया है। केंद्र में एक कृष्ण और परिधि के प्रत्येक जोड़े को परस्पर बाँधे हुए असंख्य कृष्ण। इस सृष्टि नाम की माल्य-रचना में ईश्वर सूत्र की तरह उपस्थित है और एक इकाई को दूसरे से जोड़ता है। मनुष्य और मनुष्य, मनुष्य और प्रकृति, सर्वत्र ही ईश्वर महान्

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संयोजक या ग्रंथि के रूप में वर्तमान है। यह गाँठ टूट जाए तो माला बिखर जाएगी। वही सबकुछ को एक-दूसरे से बाँधे हुए है तथा केंद्र में भी वही 'कर्माध्यक्ष' के रूप में है। 'गीता' में उन्होंने कहा है, 'समासों में मैं द्वंद्व समास हूँ'। द्वंद्व समास तब घटित होता है जब दो संज्ञाएँ परस्पर जुड़ती हैं। पुत्र पिता से, पति पत्नी से, मित्र मित्र से, पड़ोसी पड़ोसी से, नागरिक नागरिक से जुड़ता है तो संसार बनता है और गतिशील होता है। यही है शाश्वत रासलीला, जिसे श्रीमद्भागवत अपनी प्रतीक भाषा में व्यक्त करता है। इस 'विश्व नृत्य' को स्थूल भाषा के माध्यम से समझना ही भूल है। इसी भाँति कुब्जा को देखें। कुब्जा और कोई नहीं, कंस द्वारा शासित पृथ्वी ही है, जो कुब्ज भोगने के लिए विवश है। अपने सहज रूप में यह उदार, क्षमामयी और सुंदर अपनी धरती ही कुब्जा है जिसे कंसों, केशियों और चाणूरों का अंग-शृंगार करना पड़ता था। उसका चोवा-चंदन, उसका रूप-रस-गंध और गान इन पाप-विग्रहों की सेवा में अर्पित हो रहा था। इसीसे वह ग्लानि से सिकुड़कर विकलांग हो गई थी। परंतु जब 'वरण' (च्वाइस) का क्षण आया तो इसी विवश धरती ने साहस किया और एक बार द्विधाहीन मन से भगवत अंग श्री का चंदन-शृंगार कर दिया। इतिहास में ऐसे क्षण आते हैं जब कोई मुक्तिमार्ग नहीं रह जाता तो विश्व मंगल की परम शक्ति का अवतरण और हस्तक्षेप होता है। उस समय ईश्वर भी अपेक्षा करता है कि वरण करने का कोई साहस दिखाकर आगे आए। कोई एक लोटा गंगाजल और बेलपत्र लेकर खड़ा हो जाए, तब वह एक लोटा गंगाजल ही युगों की संचित पाप राशि का प्रक्षालन कर देता है। एक तिनपतिया बेलपत्र ही रुद्र की तीसरी आँख बन जाता है। कोई नन्हा-सा साढ़े तीन हाथ का आदमी साहस तो करे। श्रीमद्भागवत के अनेक प्रसंग बड़े ही संकेतधर्मी हैं; जैसे यमलार्जुन उद्धार, दावानल पान, कालिय-मर्दन या कुब्जा प्रेम आदि। श्रीमद्भागवत के मर्म को समझकर उसे पढ़ा जाए तो आज भी वह अप्रासंगिक नहीं। आज भी मारक अंधकार में अनेक अत्या-कक्ष चालू हैं, जिनमें से किसी एक में कहीं-न-कहीं कृष्ण-जन्म होगा ही। उस जन्म की आकृति, भाषा और मुहावरा चाहे जो हो। मनुष्य जन्म पाकर भी हम निराशावादी क्यों बनें? हमारी सारी वाङ्मयी परंपरा इस निराशा के नरक से उद्धार के सूत्रों से भरी पड़ी है।

'पिङ्पिङ्, विङ्पिङ्विङ्'। रात्रि में आकाश मंडल में नारद की वीणा बज रही है। चंद्र-विगलित रात। 'कुब्जा सुंदरी' की दो शाखाओं के बीच चाँद झूल रहा है और रात पिघलकर सगुण-साकार चाँदनी बन गई है। विगलित चाँदनी की धारा, गोया रात ही पिघलकर नदी बनती जा रही हो। एक ध्यान तरंगायित विरजा नदी,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जिसके इस तट पर नारद की वीणा बजती है और उस तट पर ताक्ष्र्य अपने पंख पसारे विचरण करता है। ताक्ष्र्य की पीठ पर एकतारा है, 'श्रवण नक्षत्र'। यह विष्णु के परम पद का प्रतीक है। इस पार नारद की वीणा बज रही है। आकाश से धरती तक सुरों का विस्तार है। आसपास के घर-मकान, गलियाँ, सारे जीव जगत् के साथ निद्रालीन हैं। जाग रही है मेरी हिरण्यगर्भ आत्मा और जाग रहा है वैश्विक हिरण्यगर्भ के रूप में ईश्वर। मेरे दोनों चक्षु हृदय में लीन हो गए हैं, हृदय हिरण्यगर्भ आत्मा में और आत्मा हिरण्यगर्भ ईश्वर से जुड़कर एक अद्‌भुत कल्पलोक में प्रवेश पा चुकी है। वह अपना वर्तमान नाम-रूप खो चुकी है। नाम-रूप तो इस देह और पंच प्राण के ही परिचायक हैं, जो इस समय बेसुध, निद्रालीन हैं। मैं द्वापरयुग का स्वप्न देख रहा हूँ। मैं क्या, सच्चाई तो यह है कि मेरी हिरण्यगर्भ आत्मा देख रही है, मैं तो निद्रालीन हूँ। मुझे लगता है कि मैं ही कामुक मणिग्रीव यक्ष हूँ, मैं ही अहंकारविमत्त नलकूबर हूँ। मैं ही युगल महीरुह बनकर ऋषि-शाप को भोग रहा हूँ। मैं ही प्रतीक्षारत हूँ किसी देवशिशु के अवतरण के लिए। उस देवशिशु की कटिमेखला में रस्सी बँधी है या यों कहिए कि मायारज्जु से उसने अपने को बँधवा लिया है, अन्यथा वह तो सबकुछ देश-अंगुल परे ही रहता है। यह तो स्नेह भी रज्जु है, जिससे अवश होकर वह भी 'माँ-माँ', 'बाबा', 'भैया-भैया' कहने को, रोने-छटपटाने को बाध्य हो जाता है। यदि उस देवशिशु का आगमन मेरे जीवन में भी हो जाए, वह ऊधम मचाते हुए आकर एक धक्का मुझे दे जाए, और इस प्रकार मुझे समूल उत्पाटित कर डाले तो इस जड़िमा से, इस स्थावर नरक से मेरा भी उद्धार हो जाए। मैं अपने स्वरूप को पुनः प्राप्त कर लूँ। इसीके लिए मैं प्रतीक्षारत हूँ।

स्वप्न बदलता है। नया पन्ना खुलता है।

एक इषीका वन है। इषीका अर्थात् सींक या सरकंडों का अगम-दुर्भेद्य वन। तीक्ष्ण क्षुरधार पतलों का जंगल। भीतर सरसराते हुए साँप-भुजंग चल रहे हैं। हिंसक मांस-लोलुप भेड़िए-चीते भी दुबके होंगे। इस भयानक इषीका वन में पतली-सी राह पर मैं सरकंडे पतलों के झाँपों को फाड़ते हुए चल रहा हूँ। उनकी तीक्ष्ण धार से उँगलियाँ और चेहरों पर खरोंचें लग जाती हैं। नीचे पैर में काँटे चुभ रहे हैं। तो भी चल रहा हूँ। जीवन-यात्रा जो है। पूरी करनी ही है। यही निर्दिष्ट पथ है। निस्तार नहीं। इस भयंकर इषीका वन में एक तरह से डूबा-डूबा चल रहा हूँ। अचानक चटपटाती ध्वनि करती हुई अग्निशिखा आसपास उठती है। फिर भयंकर लपलपाती ज्वालाओं में बदल जाती है। फिर भी चल रहा हूँ। यही निर्वाचित पथ है। इसी पथ के नाम मेरा जीवा बंधक में है। अतः चल रहा हूँ। आगे-पीछे, अगल-बगल,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ज्वालाएँ–ही–ज्वालाएँ हैं। तरह–तरह के जीवों का आर्त्तनाद सुनाई पड़ता है। जंगली शूकरों के झुंड, हिरणों के खुरों की तेज, विकल पगध्वनि। दूर पर चिंघाड़ते हाथियों की भगदड़। कई विकल अजगर तो सरकते हुए आसपास बगल से ही गुजर जाते हैं। तो यह दावानल है। इस दावाग्नि में मारे भय के मेरी धड़कन बंद होने को आ गई है। प्रार्थना के शब्द कंठ से निकल नहीं पा रहे हैं। भयानक आर्त्त। भयानक ज्वालाएँ। दिशाएँ जल रही हैं। सारा परिवेश जल रहा है। आँखें जल रही हैं। मैं, मैं एक बीसवीं शती के अंतिम दशक का मनुष्य विकल–विह्वल किसी देवशिशु के अवतरण की अशब्द प्रार्थना कर रहा हूँ। मुझे लगता है कि वह अवश्य आएगा और मुझे पीछे ठेलकर सामने स्वयं खड़ा हो जाएगा और सारी ज्वालाओं को गटागट पी जाएगा। पूरब–पश्चिम–उत्तर–दक्षिण सर्वत्र की ज्वालाओं को वह साँस भर–भर कर खींचकर पी जाएगा। समस्त सृष्टि के भय, काम और दुःख के दावानल को पीकर पचा पाने की क्षमतावाला देवशिशु निश्चय ही आएगा। तब यह क्षुरधार इषीका वन जलकर भस्मीभूत हो जाएगा। वातावरण शांत हो जाएगा। वह और हम; इस बंधु भाव से शेष पथ पर साथ–साथ चलते जाएँगे। उस अवतरण की शक्ल–सूरत क्या होगी, यह मैं नहीं जानता।

फिर दूसरा पन्ना खुलता है। दूसरा स्वप्न उदित होता है।···

इसी तरह एक नहीं, अनेक पन्ने इस कुटिल बंकिम तरु की शाखाओं के नीचे आँखें मूँदे हुए मैंने कितनी बार पढ़े हैं और कितनी बार निराशा के तमस से उज्ज्वल उद्धार पाया है, इसे कहाँ तक बताऊँ··· गुरु निंबार्काचार्य के नामकरण का रहस्य यह बताया जाता है कि वे प्रतिदिन एक ऊँचे नीम के पेड़ पर चढ़कर बालार्क सूर्य को प्रातः नमस्कार करते थे। शायद वे घनघोर अरण्य में रहते थे। ऊँचे–ऊँचे पेड़ों के कारण प्रातः सूर्य–दर्शन नहीं हो पाता था। अतः उन्हें प्रतिदिन शाखामृग की तरह पेड़ पर चढ़ना पड़ता था। परंतु मुझे तो इस 'कुब्जा सुंदरी' की दो शाखाओं के बीच पूर्ण चंद्र का दर्शन अपनी चारपाई पर लेटे–लेटे ही हो जाता है और रात–बिरात इसकी शाखाओं के नीचे मैं श्रीमद्भागवत के रहस्य स्वप्न–चक्षुओं से देखता हूँ। अवश्य ही मेरी अर्थात् इस शताब्दी की श्रीमद्भागवत द्वापर की राग–पूर्वराग–महाराग की भागवत से भिन्न भय और हताशा की भागवत है। और आश्चर्य, कि यह भय ही हमें ईश्वर से जोड़ रहा है। मूल भागवत भी तो भय और हताशा के परिवेश में ही सुनी गई थी। शेषनाग के फणों की छाया में बैठकर नारद ने इसे ब्रह्मा से सुना था। फिर कुरुक्षेत्र की सर्वनाश चिंता की विकल स्मृतियों को लेकर वेद व्यास ने नारद से सुना और व्यास से शुक, शुक से परीक्षित् और शेष मानव समुदाय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ने। यही इसकी व्यास परंपरा है। इस टेढ़ी नीम 'कुब्जा सुंदरी' के नीचे चंद्र-विधांत रात्रियों में मैं कभी-कभी अपनी चारपाई पर लेटे-लेटे आँखें मूँदकर इसका एकाध पन्ना पढ़ लेता हूँ। आँखें खोलकर तो यथार्थ ही पढ़ा जाता है; परंतु आँखें मूँदकर सत्य भी पढ़ा जा सकता है। आधुनिक साहित्यकार की 'ट्रेजडी' यही है कि वह पेट के बल यथार्थ से बुरी तरह चिपका हुआ रेंगता चल रहा है और परा यथार्थ सत्य से उसकी भेंट नहीं हो पाती। उसके पास आँखें मूँदकर आराम से देखने-सुनने की फुरसत कहाँ! फलतः वह विश्वास ही नहीं कर पाता कि यथार्थ और सत्य दो तरह की बातें हैं और यथार्थ से बड़ी सच्चाई है सत्य। 'प्रतिसत्य' और 'असत्य' भी यथार्थ का चेहरा लगाकर लीला करता है और आँखें, खुली आँखें प्रायः धोखे में आ जाती हैं। दो खुली आँखों से देखने की एक सीमा है। वे एक ही कोण से एक ही दिशा में देख सकती हैं। समग्र रूप में और रूप के नीचे उतरकर अरूप में देखने की क्षमता खुली आँखों में नहीं। इन्हें यदि देखना हो तो आँखें मूँदकर ही देखना पड़ता है। यह एक विचित्र रहस्य है, जिसको मैंने इस 'कुब्जा सुंदरी' की छाँह में, चाँदनी की शांत-समाहित धारा में स्नान करती हुई रात्रियों में समझा है। अतः यह टेढ़ी विकलांग नीम मेरे लिए वही महत्त्व रखती है जो निंबार्काचार्य के लिए उनके अपने निंब-तरु का था।

□

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अग्नि, तुम जागते रहना

'''असमिया स्वभावतः अतिथिप्रिय और सरल-चित्त रहे हैं और उनके इस स्वभाव की गलत सुविधा बाहरी लोगों और राजनीतिज्ञों ने उठाई तथा केंद्रीय शासन के अंधे धृतराष्ट्र मौन रहे। फलतः उनका राष्ट्रीय चिंतन यदि अनुपातहीन हो जाए तो क्या आश्चर्य है! असम की समस्या तो धीरे-धीरे बिहार लाँघते हुए गाजीपुर तक आ पहुँची है और हम बेखबर सो रहे हैं—'अंधे की गैया, राम रखवैया'। सारा देश ही अंधकार में धारदार 'गुप्ती' लेकर चलनेवालों की विहार भूमि बनता जा रहा है।'''

वैदिक ऋषि ने अग्नि को ही प्रथम प्रजापति, प्रथम प्रणम्य और प्रथम देवता के रूप में प्रत्यक्ष अनुभव किया था।

'अग्ने त्वं सु जागृहि वयं सु मन्दिषी महि'।—(शुक्ल यजुर्वेद, ४/१४)।

अग्नि, अब तुम जागते रहना, हम थोड़ा विश्राम कर रहे हैं। वैदिक ऋषि सोने के पूर्व अपने अग्निहोत्र को अपनी सारी सुरक्षा का भार देकर सोता था। अग्नि दुरित-प्रवेश को अवरोध देता है। पाप और अशोभन को, अधिकार और उसके भीतर धारदार गुप्ती लेकर चलनेवाले दस्यु और रात्रिचर को, अदिव्य और अपवित्र को उँगली उठाकर भीतर आने से रोकता है। अग्नि सजग-सावधान प्रहरी है और मृत्यु की मारक शक्तियों को अपसारित किए रहता है। हम जब निद्रालीन और अचेत रहते हैं, जब हमारे वाम और दक्षिण दोनों चक्षु एक में लीन होकर हृदय में चले जाते हैं तो उस मुद्रित चक्षु अवस्था में भी जाग्रत रहती है प्राणों की सोमकला और देह की वैश्वानर अग्नि। हमारी हिरण्यगर्भ आत्मा जीवन-रक्षा का भार इन्हें ही सुपुर्द कर स्वप्न-राज्य में विचरण करती रहती है। वैदिक ऋषि कहता है, 'यह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अग्नि वस्तुत: द्युलोक के सविता का ही एक रूप है, जो द्युलोक में सविता है वही अंतरिक्ष में आदित्य और सोम है, पृथ्वी पर वही अग्नि बनकर स्थित है।' फिर वैदिक ऋषि इसी बात को दूसरे ढंग से कहता है, 'यह अग्नि ही अपने को चार भागों में विभाजित करके विश्व में स्थित है।' द्युलोक में यह दिव्याग्नि है और इसका नाम 'शुचि' है, अंतरिक्ष में यह अंतरिक्ष अग्नि है और इसका नाम 'पवमान' है, पृथ्वी पर यह पार्थिव अग्नि है तब इसका नाम 'पावक' है; परंतु जीव-जंतुओं में यह प्राणाग्नि बनकर चौथे रूप में भी स्थित है और इस चौथे रूप का नाम वैश्वानर है। 'शुचि' का अर्थ जल भी होता है और पवमान का 'पवन' भी। अत: अग्नि पंचभूत व्यापी है और धरती-आकाश-जल-पवन सबमें स्थित है। यह विश्वव्यापी तेज-कला है। पंच महाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार मिलकर 'प्रकृति' कहलाते हैं। परमा प्रकृति की दो ही दिव्य कलाएँ हैं, वे हैं सोम और अग्नि। सृष्टि की सारी सत्ता में ये दोनों किसी-न-किसी रूप में हैं।

सारी सृष्टि अग्नि-सोमात्मक है। इसीसे अग्नि की प्रार्थना में वह ऋषि उन गुणों और अवधारणाओं को व्यक्त करता है जो आधुनिक शिक्षा-पद्धति में प्रशिक्षित मन को ऊटपटाँग लगती हैं। वह समझ नहीं पाता कि यह वैदिक 'अग्नि' अंग्रेजी के 'फायर' या हिंदी के 'आग' की समाकृति नहीं। 'फायर' या 'आग' तो उसकी हजार कलाओं में से एक कला मात्र है। आज से पचास-साठ वर्ष पहले राजस्थान, हरियाणा या पश्चिम भारत की ग्रामवधुएँ शायद इसे ज्यादा ठीक समझती थीं, जब 'आग' कहना अशुभ माना जाता था और इसे अशुभ अवसरों को छोड़कर अन्य अवसरों पर 'वासुदेव' कहा जाता था। चूल्हे की अग्नि, जिसपर मीठी मक्के की रोटी और उरद की दाल पकती है, 'वाश दे' (वासुदेव) है, देवता है; अन्यथा रोटी-दाल इतने स्वादिष्ट कैसे हो जाते हैं। आज के हिंदुस्तानी को यह सब ऊलजलूल लगता है। परंतु इसकी पृष्ठभूमि में है लोकमन में स्थित उस जातीय अवधारणा का सहज स्वाद, जो भारतीय जीवन के आदिकाल से प्रवहमान है। वस्तुत: भारतवर्ष की किसी बात को समझने के लिए, विशेषत: भारतीय वाङ्मय और लोक-जीवन को समझने के लिए दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक होता है। पहली बात तो यह है कि यहाँ की सनातन चिंतन-पद्धति 'अनेक' के भीतर 'एक' की कोई-न-कोई कला या प्रतिबिंब ढूँढती है और दूसरी बात यह कि हर एक केंद्रीय शब्द के पीछे विशेष अवधारणा है जो देशी प्राणिविज्ञान, सृष्टिविज्ञान, नीतिशास्त्र (पुरानी संज्ञा 'धर्मशास्त्र') और वैदिक विश्वविद्या के सामंजस्य से उद्भूत हुई है। आधुनिक समाजशास्त्र अथवा नृतत्त्वशास्त्र एवं अंशत: आधुनिक साहित्यशास्त्र भी जो एक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नितांत भिन्न चिंतन-पद्धति और भिन्न बौद्धिक-सांस्कृतिक परिवेश की उपज है, इतनी गहराई में न जाकर अपनी पूर्व निर्धारित 'थ्योरियों' के आधार पर इनका अर्थ समझने की चेष्टा करता है और फल होता है—अधूरी पहचान और तरह-तरह की गलतफहमियाँ। वह समझ नहीं पाता कि वैदिक 'अग्नि' मात्र आग या ऊष्मा नहीं, वह विश्वव्यापी ऊष्मा है तथा प्राण जीवन और वैश्विक प्रकृति की ईश्वरीय कल्पना है। वह शुचि है। वह सुंदर है और मधुमय है; क्योंकि ईश्वर शुचि है, सुंदर है और मधुमय है। साथ ही ईश्वर परम व्यापी और कर्माध्यक्ष है। अतः यह भी तीक्ष्ण है, उग्र है और जलाकर पवित्र करनेवाला पावक है। वैदिक कवि जब 'अग्नि' शब्द का उच्चारण करता है तो सर्वदा 'अग्नि' की इसी व्यापक भूमिका को ध्यान में रखता है। अतः उसकी यह प्रार्थना कि 'हे अग्नि, अब हम सोने जा रहे हैं, अब मेरी और मेरे 'विश्व' की रक्षा और मंगल का भार तुमपर है', बड़ी ही उदात्त प्रार्थना है और सार्थक एवं युक्तिसंगत निवेदन है।

अब ऋषि कहता है, 'अग्नि मधुमय' है अथवा 'सूर्य मधुमय' है, तो 'मधुमय' का अर्थ हिंदी 'मीठा' नहीं बल्कि 'स्वादिष्ट' है। आस्वादन या भोग का प्रत्येक संदर्भ में एक ही अर्थ नहीं होता। इसका अर्थ इंद्रियसापेक्ष होता है। सारे सुखद अनुभव ही स्वादिष्ट होते हैं, परंतु सुख की आस्वादन शैली भिन्न-भिन्न होती है। अग्नि की ऊष्मा मधुमय है और यह मधु स्पर्श-मधु है। माघ मास की ठिठुरती हिमशीतल रात्रि में इसका मधु पहचाना जा सकता है। यह तन, मन और प्राण को स्पर्श करती है। जीवन सजग हो उठता है। तुषाराच्छन्न आकाश। धुंध-भरा वातावरण। सारी सृष्टि 'निःश्वासांध-दर्पण' जैसी हो जाती है, प्राणहीन और बिंबहीन। ऐसे में सुबह के झलफले में अलाव में जलती अग्निशिखा कितनी मोहक और सुंदर लगती है! भीतर क्षण-भर के लिए हाथ डाल दो तो भी वह काट नहीं खाती। देह में, रोम-रोम में, स्नायुमंडल में सुख और तृप्ति का संचार कर देती है। मैंने जीवन के सत्ताईस वर्षों को असम प्रदेश में भोगा है। सुख और दुःख, उल्लास और यंत्रणा, सम्मान और ग्लानि का समान भोग करते हुए मैं व्यग्रतापूर्वक असमिया लोगों के माघ बिहू पर्व की जो प्रतीक्षा प्रति संवत्सर करता रहता था, वह मधुमय अग्नि के इसी उत्सव-स्वाद की पुनः-पुनः प्राप्ति के लिए। असमिया लोग इसे 'भोगाली' बिहू (भोग बिहू) कहते भी थे। मकर संक्रांति की पूर्वसंध्या से ही सारे असम में, ग्वालपाड़ा से सदिया तक 'बिहू रे बिहू' की ध्वनि ग्राम-ग्राम से, टोल-टोल से गूँज उठती थी और साथ ही जल उठते थे बड़े-बड़े अग्नि-स्तूप। उनकी वातावरण को भेदकर ऊँची उठती लपटों के सम्मुख अग्नि के देवता रूप का प्रतीकात्मक अनुभव सत्ताईस वर्षों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तक प्रति संवत्सर मैं करता रहा हूँ। इस दिन घर पर अतिथि को बुलाना एक सामान्य प्रथा है। असमिया लोग इस पर्व के दिन अतिथि-सत्कार का अवसर न पाना अशुभ और अमंगल का द्योतक मानते हैं। असमिया स्वभावत: अतिथिप्रिय और सरल-चित्त रहे हैं और उनके इस स्वभाव की गलत सुविधा बाहरी लोगों और राजनीतिज्ञों ने उठाई तथा केंद्रीय शासन के अंधे धृतराष्ट्र मौन रहे। फलत: उनका राष्ट्रीय चिंतन यदि अनुपातहीन हो जाए तो क्या आश्चर्य है। असम की समस्या तो धीरे-धीरे बिहार लाँघते हुए गाजीपुर तक आ पहुँची है और हम बे-खबर सो रहे हैं—'अंधे की गैया, राम रखवैया'। सारा देश ही अंधकार में धारदार 'गुप्ती' लेकर चलनेवालों की विहार भूमि बनता जा रहा है।

तो भी प्रत्येक माघ मास की कुहराच्छन्न शिशिर रात्रियों में मुझे असमिया जाति का यह अग्नि-उत्सव याद आता है। मकर संक्रांति की प्रात: वेला में उधर उषा काल का आगमन होता है और इधर ग्राम-ग्राम से अँधेरे मुँह पुन: दूसरा ज्वाला-स्तूप अंधकार और कुहासे को चुनौती देता हुआ प्रज्वलित हो उठता है। उस समय लगता है कि सारी असमिया जाति एक साथ अग्नि-वंदना को उठ खड़ी हो गई है। उधर दिगंत पर धुंध की सेना से ज्योति-पुरुष जूझ रहा है। अचानक वह तुषारवृत्त को फाड़कर किलकते बच्चे जैसा निकल आता है। सिंदूरी लाल वृत्त। और इस प्रात: अरुण की आरती में तीसरा अग्नि-स्तूप जल उठता है। लोग ढोल खोल और ताल-मजीरा के साथ इसकी परिक्रमा करने लगते हैं और इस भस्मी को एक-दूसरे के ललाट पर लगाते हुए यथायोग्य प्रणाम-आशीर्वाद का आदान-प्रदान होता है। फिर दिन-भर घर-घर में अतिथियों का ताँता और उनका आप्यायन, जिसकी तैयारी गृहस्वामिनी हफ्तों पहले से कर रही होती है। मकर संक्रांति का यह असमिया संस्करण मेरी अतीत-माधुरी का अविस्मरणीय अंग है और इसके माध्यम से मैंने अग्नि के वैदिक मधुमय रूप का दर्शन किया है। उत्तर भारत के होलिका-दहन का रूप भी सुंदर और उदात्त है; परंतु उतना मधुमय नहीं। शिशिर की हिमशीतल रात्रियों में ही अग्नि में मधु बसता है और ऊष्मा के लिए तृषित मन-प्राण को यह मधु की तरह ही स्वादिष्ट लगता है। चैत्र की वासंती पूर्णिमा में तो यह रूप आ नहीं पाता। मकर संक्रांति अर्थात् माघ मास, माघ अर्थात् हिमशीतल ठिठुरती रातें, तुषाराच्छादित धरती-आकाश और स्वादिष्ट मधुमयी अग्निशिखा तथा धुंध-कुहरे को काटकर उगता हुआ केशरवर्णी मधुमय सूर्य। माघ मास अर्थात् असमिया बिहू पर्व, गाँव-गाँव में संचित खरपात के स्तूप और उल्लासमय अग्नि पर्व। शब्दकोष चाहे जो अर्थ दें, परंतु जीवन के भोगे गए अनुभव अपना निजी शब्दकोष रचते हैं और यह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्दकोष मन के व्याकरण का अनुकरण करता है। मेरे मन के भीतर निरंतर विरचित होते हुए शब्दकोष में मकर संक्रांति का अर्थ होता है—माघ मास और माघ मास का अर्थ होता है वह सबकुछ, जिसे मैंने अभी कहा है और इसके अतिरिक्त भी बहुत-बहुत कुछ जिसे लिख नहीं पा रहा हूँ अथवा जिसकी भाषा ही शब्दहीन मौन है। अथवा ऐसा भी कुछ है, जिसके लिए भाषा तो है, पर ओष्ठलग्न तर्जनी के साथ अधिक क्या कहें, 'सरिस श्वान मघवान जवान'। 'माघ' शब्द से 'मघवन' का भाषिक रिश्ता है। दोनों सहोदर हैं, परंतु असम की परमा प्रकृति की निसर्गश्री ने मुझे 'श्वान' होने से बचाकर ललित निबंधकार बना दिया। मैं असम में नहीं आता तो ललित का निबिड़ अनुभव ही नहीं प्राप्त कर पाता। तब मैं ललित निबंध थोड़े लिखने जाता। तब मैं लिखता साँड़ की तरह हँकड़ते हुए तेजस्वी आचार्योपम शैली के निबंध, आचार्य रामचंद्र शुक्ल की तरह, जिनकी आलोचना-क्रीड़ा में खड़ी बोली का ललिततम काव्य 'छायावाद' वैसे ही हलका साबित हुआ जैसे अखाड़ते हुए वृषभ के सींगों पर धान का पुआल सुशोभित होता है।

वैसे यह मकर संक्रांति अखिल भारतीय पर्व है। उत्तर में 'खिचड़ी' और दक्षिण में 'पोंगल' पर्व इसीको कहते हैं। पोंगल खिचड़ी जैसा ही खाद्य पदार्थ है। असम में भी इस दिन दोपहर के भोजन में उत्तर भारत की ही तरह खिचड़ी, दही, चिउड़ा और मिठाइयों का ही प्राधान्य रहता है। यानी सारे हिंदुस्तान का भोजन इस दिन कमोबेश एक किस्म का है। यह तथ्य इस बात का सबूत है कि यह मूलतः कृषि-पर्व है और आर्येतर भारत ने इसका शुभारंभ किया था। भारतीय भोजन संस्कृति चावल-प्रधान संस्कृति है। गेहूँ या गोधूम की एक संज्ञा 'म्लेक्ष भोज्य' भी मिलती है, जो इसके बाह्य भारतीय उत्स का संकेत देती है। 'बाह्य भारतीय' से हमारा तात्पर्य हिंदी-ईरानी मूल आर्यभूमि है, तो भी भारतीय पुराणों में मकर संक्रांति के संबंध में एक अनुश्रुति प्रचलित है, जो निश्चय ही शुद्ध हिंदी आर्य या 'नव्य आर्य' की मेधा की उपज है। 'पद्मपुराण' (उत्तरखंड, अध्याय १२/१३) में कथा आती है जब शंखासुर ने वेदों का अपहरण करके समुद्र में छिन्न-भिन्न करके डुबा दिया, विष्णु और शंखासुर में महासंग्राम हुआ और वे उसे मारकर उसका शंख तो ले आए, परंतु स्वयं वेदों का उद्धार नहीं कर पाए। बाद में उन्हींके निर्देशित पथ और युक्ति से ऋषियों ने वेद-बीजों का उद्धार किया। कथा का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि विष्णु के माध्यम से असुर-दर्शन अनीश्वर शांख्य (सांख्य) का भागवतकरण तो हो गया, उसे ईश्वरवादी गीता के सांख्य में ढाल दिया गया, परंतु वेद छिन्न-भिन्न हो चुके थे और उनके बीजों का उद्धार भागवत विद्या में ऋषियों ने किया है वैष्णव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संहिताओं के रूप में। ऋषियों की इस महान् उपलब्धि के नेता विष्णु ही थे। अत: 'वेदान् उद्धरते' कहकर उनके ही मत्स्यावतार की प्रशंसा की गई। इसके उपलक्ष्य में देवताओं समेत प्रजापति ने अश्वमेध यज्ञ किया। यह उत्सव जिस स्थान पर घटित हुआ, वह स्थान ही 'प्रयाग' कहलाया और यज्ञ समापन दिवस ही आगे चलकर मकर संक्रांति पर्व बना। प्रयाग के वेणीमाधव वही विजेता विष्णु हैं। 'वेणी' अर्थात् त्रिवेणी। 'वेणा' (वेना) शब्द का अर्थ जलधारा भी होता है (निघंटु) और त्रिवेणी का अर्थ हुआ 'त्रिधारा' या तीन नदियों का 'त्रिक'। प्रजापति के द्वारा किया गया यह अश्वमेध यज्ञ इस माघ मास के ठिठुरते स्नान–उत्सव में अग्नि–पर्व को संयुक्त करने की सार्थकता का संकेत भी देता है। अश्वमेध यज्ञ के कारण ही उस स्थली को 'तीर्थराज' और 'प्रयाग' की संज्ञा मिली है। सम्राट् अकबर द्वारा बलपूर्वक थोपी गई संज्ञा 'इलाहाबाद' का आज भी चालू राजनीति में चाहे जो मूल्य हो, यह एक सांस्कृतिक अवमूल्यन ही है। यह घटना अकबर के श्रेय के खाते में एक कटौती ही लाती है। यह उसकी गरिमा वृद्धि नहीं करती। ठीक है, चंद्रमा में भी कलंक होता है। अत: इस घटना के बावजूद अकबर तो अक़बर ही हैं।

बात तो प्रारंभ हुई थी मनुष्य के परम बांधव, परम सखा अग्नि को लेकर, परंतु अपने असम–प्रवास की अतीत–माधुरी से खिंचकर मैं 'बिहू' अर्थात् संक्रांति पर्व से जा जुड़ा, ठीक वैसे ही जैसे जन्म लिया था पापहरा सुरेश्वरी नदी गंगा के तट पर; परंतु जीवन जा जुड़ा ब्रह्मपुत्र महानद से और वहाँ पर 'महाकमल–कामिनी' भगवती की ललित कांता मुद्राओं में विमुग्ध पड़ा रहा सत्ताईस वर्षों तक। अपनी नदी ने जब पुन: पुकारा, मैं लौट आया। यह एक भटकाव है, परंतु मेरे लिए यह लालित्य–संचरण बन गया। संचरण तभी ललित होता है जब वह वृत्ताकार रेखाओं में चलता है। सीधी रेखा में लालित्य नहीं है। मात्र सुगमता है। जो सुगम है वह दुर्गम नहीं हो सकता और लालित्य तो 'क्षुरस्य धारा दुर्गं पथ:' के बाँकपन का ही अनुभव है। सृष्टि में जहाँ–जहाँ गोलाई है, बंकिम कटाव है, वहीं–वहीं लालित्य का आकर्षण प्रबल होता है। अत: लालित्य के साथ 'क्षुरधारा व्रत' खेलते हुए मैं पुन: अपनी बात के प्रस्थान–बिंदु परम सखा, परम बंधु 'अग्नि' की ओर इस समय लौट पड़ूँ तो यह मेरे हिसाब से युक्तिसंगत है। औरों का हिसाब और जानें। जब मैं बच्चा था तब भी अग्नि की लपटें देखकर उल्लसित होता था। इस ढलती वयस् में भी निरंतर ऊर्ध्व गति करती हुई अग्नि की रूपसी शिखा को देखकर उल्लास का बोध होता है, भीतर के चैत्य–पुरुष के ऊपर चढ़ी मनोमय खोल में थरथराहट और कंपन होने लगता है, जो प्रज्ञा और आनंद के कोषों तक इस संवेदन को पहुँचाता है। उस समय आत्मा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भय और ग्लानि का कंचुक फाड़कर विस्तीर्ण होने लगती है। ऐसा ही अनुभव हमें गरजते विस्तीर्ण समुद्र तट पर या उत्तुंग शिखर की तलहटी में खड़े होकर होता है। वस्तुत: विस्तीर्ण क्षुब्ध समुद्र, उत्तुंग शिखर और आग की पहाड़ी से उठती ज्वालाशिखा—ये सब तो परम पुरुष की निराकार मूर्तियाँ हैं। इसीसे इनमें महापुरुष के लक्षण मौजूद हैं। सही महापुरुष वह नहीं है जिसके रोब-दाब या प्रभामंडल से हमारी आँखें मुँद जाएँ और हम अपने को हीन मानने लगें और प्रणिपात हो जाएँ। ऐसा महापुरुष हमारे भीतर के शैतान को भले ही भगा दे, पर हमें देवता नहीं बना सकता। ऐसा महापुरुष ईश्वर द्वारा नियुक्त प्रशासक मात्र है, वह स्वयं ईश्वर-लक्षण से संपन्न नहीं। सही महापुरुष वह है जो सामने पड़ने पर हमारे अंदर देवत्व का संचार कर दे, हम अनुभव करने लगें कि इसके व्यक्तित्व की किरणें हमें देवता बना रही हैं। ऐसे ही महापुरुष इस शताब्दी में गांधी, रवींद्र और रामकृष्ण परमहंस थे। अग्नि भी ऐसा ही महापुरुष या अधिदेवता है। हिमालय और हिंद महासागर भी ऐसे ही अधिदेवता-विग्रह हैं। मैं इन्हें मात्र 'भूत' या 'अधिभूत' नहीं मानता। ये मेरे लिए 'अधिदेवता' हैं और प्रजापति अग्नि तो इससे भी बढ़कर परम शिव है, परम देवता है, श्रुति परंपरा और लोक परंपरा से सम्मत परम देवता। अत: इस अग्नि को नमो नम:। इसकी स्वाहा को नमो नम:। इसकी स्वधा को नमो नम:।

इसलिए वैदिक ऋषि का कथन बड़ा ही भावपूर्ण है—'अग्नि, तुम जागते रहना, अब मैं जरा विश्राम कर रहा हूँ।' मैं भी इसी तरह प्रार्थना करता हूँ—'हे अग्नि! हे प्रणम्य! हे पवित्र! तुम बंधु हो, प्राण-सहचर हो, गुरु हो। तुम जागते रहना, तुम पहरा देते रहना। हमारे जप-तप, हमारी भाषा, हमारी विद्या की रक्षा करते रहना। परम सखा अग्नि, आज बड़ा अंधकार है, हाथ को हाथ नहीं सूझता, कुछ दिखाई नहीं पड़ता, मारे ठंड के कलेजे में तिब्बत उतर गया है, स्नायु मंडल ठिठुरकर कुंडलित-कुंठित होता जा रहा है। यह तमसा रात्रि, यह धुंध, यह शीतलता, सब मिलकर मेरा सबकुछ भक्षण करने पर तुले हैं। ऐसे में तुम 'वाक्' का रूप धारण करके मेरी मनोमय गुहा को प्रकाशित किए रहो, तुम मधुर ऊष्मा बनकर चेतना को जाग्रत रखो और मेरे मन के प्रत्येक चौराहे पर अग्नि-स्तूप की ज्वलंत शिखा बनकर पथ की दिशा का निर्देश करते रहो। मेरे उद्गीथ की, मेरी विद्या की, मेरी यज्ञशाला की और मेरे गाँव-नगर, देश की पवित्रता के तुम्हीं प्रहरी हो। अत: हे सखा, हे प्रणम्य, तुम मत सोना, तुम सदैव जागते रहना, सावधान रहना। मैं जानता हूँ कि तुम भारतीय वाङ्मय के प्रथम 'श्री विग्रह' हो और तुम मेरी प्रार्थना अवश्य सुनोगे।'

□

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अरे ओ वज्रादपि कठोर!

◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇◇

...हम 'आत्महीनता' से पीड़ित हैं। इसका कारण है हमारी बौद्धिक दासता। अंग्रेजी की कुछ क्षेत्रों में आवश्यकता को मानते हुए भी डॉ. राधाकृष्णन् कमीशन की रिपोर्ट में स्पष्ट लिखा है कि भारत का बुद्धि-स्वातंत्र्य तब तक मुक्त विकास न पाएगा जब तक हम अंग्रेजी भाषा के जरिए बौद्धिक विकास करते रहेंगे।...हम इतने अक्लमंद हो गए हैं कि अपना उल्लू सीधा करने के लिए राष्ट्रभाषा, साहित्य एवं ललित कलाओं से संबंधित प्रश्नों को भी राजनीतिक रूप दे डालते हैं। यदि ऐसा न होता तो हिंदू धर्म के तमिलभाषी पोप, जगद्गुरु कामकोटि पीठाधीश्वर शंकराचार्य प्रभु संस्कृत वाया (Via) अंग्रेजी का समर्थन एवं किसी भारतीय भाषा के राष्ट्रभाषा होने का अप्रत्यक्ष विरोध क्यों करते?...

'जयंती मंगला कालीभद्र काली कपालिनी।
दुर्गा-शिवा क्षमा धात्रौ स्वाहा स्वधा नमोऽस्तुते।'

भारतीय संस्कृति जिन संस्कारों की समूहगत संज्ञा है, वे तपोवन में उत्पन्न और परिपोषित हुए हैं। जब-जब ये संस्कार पीड़ित और अपमानित होते हैं तब-तब क्षोभ और ग्लानि से पीड़ित धरती पर पुरुषोत्तम शक्तियों का आविर्भाव होता है। पुरुषोत्तम शक्ति सदैव अवतारों में ही नहीं आती। कभी-कभी साधारण मनुष्यों में भी 'निमित्तमात्रं भव' कहकर प्रविष्ट हो जाती है। इस शक्ति का सबसे प्रकाशमान प्रस्फुटन महाभारत काल में मिलता है। धर्म की गति कितनी सूक्ष्म और गहन है, पर कितने कम लोग इसे ठीक से जानते हैं! जो एक के लिए धर्म है, वह अन्य के लिए अधर्म कैसे हो गया? मांस-भक्षण यदि गाय का धर्म नहीं तो व्याघ्र का धर्म कैसे हो गया? ऐसे ही असंख्य प्रश्नों के मंथन के पश्चात् महाभारतकार ने धर्म एवं निर्भयता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का उपदेश 'शांतिपर्व' एवं 'गीता' में प्रस्तुत किया। इस गहन चिंतन के आगे हंबूराबी का 'कोड' एवं 'ओल्ड टेस्टामेंट' की हिब्रू 'ड्यूट्रोनॉमी' बचकानी कृतियाँ-सी हैं। महाभारत युद्ध की ऐतिहासिकता अब बहुत कुछ मान्य हो चुकी है। महाभारत युद्ध के बाद जिस अनुशासित व्यवस्था का उदय हुआ, उसीका एक रूप, 'गलितं पलितं मुण्डम्' ही सही, आज तक चल रहा है।

महाभारत काल में वैयक्तिकता अति एकांत संन्यास या अति नितांत भोग में शरणागत हो गई थी। लोकसंग्रह भाव मर-सा रहा था तो कामना एवं संन्यास के बीच मध्यम मार्ग की 'निष्काम कर्म' की व्यवस्था श्रीकृष्ण ने प्रस्तुत की—महापुरुष श्रीकृष्ण ने जो युग की पुरुषोत्तम शक्तियों में सर्वोच्च एवं सबके उत्प्रेरक थे।* उन्होंने ज़ीवन को संतुलित करने के उद्देश्य से राष्ट्रीय धर्म को चार समान चरणों पर स्थित किया—क़र्म, भोग, आस्था एवं संन्यास। जागरूक व्यक्तियों में, सचेत राष्ट्रों में, हर अवस्था में, हर आश्रम में—ये चारों भाव संतुलित होकर विद्यमान रहते हैं। यह संतुलन बड़ा ही निष्ठुर विधान है। कर्म की निर्ममता इन सबमें अधिक भयंकर है। व्यक्तिगत राग-द्वेष-मोह-प्रेम-करुणा आदि का इसमें कोई स्थान नहीं। यहाँ सव्यसाची अर्जुन की, युधिष्ठिर की भावुकता तुच्छ है। इस तथ्य को श्रीकृष्ण और भीष्म दोनों जानते हैं। यहाँ पर मनुष्यमात्र को एक ही चिरंतन आदेश है—'मामनुस्मर युद्धस्व च'।—मेरा स्मरण करते हुए संघर्ष करो। कर्म और आस्था, यही दोनों तुम्हारी समरारूढ़ आत्मा के संबल हैं।

वीरता का यह उपदेश ऋग्वेद एवं अथर्ववेद के मंत्रों में मिलता है, जहाँ शत्रु के विनाश के लिए अनेक ऋचाएँ आदित्य, रुद्र, इंद्र एवं अग्नि को संबोधित करके लिखी गई हैं। वेद अनंत पौरुष के स्रोत हैं। उनमें सादी, अलंकारहीन किंतु आत्मा से उत्थित होनेवाली अपौरुषेय भाषा में ज्वलंत देवताओं की विजय का स्तवन किया गया है। बीसवीं शती के प्रथमार्द्ध तक हमारे प्राणों में बहनेवाले ऋषिप्रोक्त वेदों एवं महाकाव्यों से नि:सृत इस पौरुष रस के लिए हमारे मन में श्रद्धा रही और आज भी वह पूर्णत: मरी नहीं है। वह मर-मरकर फिर जी उठती है। इतिहास साक्षी है। हाँ, आज देश में एक वर्ग ऐसा भी है जो अपनी कापुरुषता, अज्ञान एवं बौद्धिक बेईमानी पर परदा डालने के लिए इस पौरुष प्रधान दर्शन को अवहेलना की दृष्टि से

* वैष्णव आगमों के व्यूह सिद्धांत के अनुसार, श्रीकृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध (परमात्मा, जीव, मन और अहंकार) का व्यूह ही पूर्ण परमात्मा है। दूसरे विश्वास के अनुसार, श्रीकृष्ण वासुदेव परमात्मा हैं और बलराम नारायण पुरुष (परमात्मा का चौथा रूप)। तीसरा विश्वास है कि अर्जुन-कृष्ण नर-नारायण हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

देखता है। स्वर-बंधन तथा वाणी-दमन के प्रतीक कंठ-बंधक (नेक टाई) से सुशोभित ब्यूरोक्रेटों के पुत्र-पौत्र जो गौरांग प्रभुओं की चरण-सेवा को ही आदर्श मान बैठे थे, आज सबसे आगे बढ़ कहते हैं—'बुद्धं शरणं गच्छामि', 'गीता 'फासिज्म' है', 'उद्गीथ का अर्थ चरवाहों का गीत है'। गोया नचिकेता के प्रश्न चरवाहों की गप्पें हों एवं 'सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां तस्मै देवाय हविषा विधेम' चरवाहों के प्रेम-गीत हों।

राष्ट्रीय पुनर्जागरण के बौद्धिक केंद्र थे बंगाल और गुजरात-महाराष्ट्र। तिलक और विवेकानंद ने इस पौरुष प्रधान संस्कार-समूह को फिर से सचेत किया। विवेकानंद केवल संन्यासी मात्र न थे। दिनकरजी के शब्दों में, 'ऐसी भाषा संन्यासी नहीं बोलता है।' उनकी शब्दावली से ज्ञात होता है कि वे पुरुषोत्तम शक्ति के आविर्भाव थे। शब्दों की परिमेय शक्ति एवं उनमें निहित शक्ति को पहचानना ऋषियों एवं पैगंबरों का काम है। अपौरुषेय वाङ्मयों (गीता, वेद, कुरान, बाइबल आदि) की शब्द-शक्ति का रहस्य यही है कि इन पुरुषों की विकसित आत्मशक्ति उन शब्दों को उनके मन में जगा देती है। इसीसे कहा गया है कि उद्गीथ मरता नहीं। जिस दिन सारी ऋचाएँ लुप्त हो जाएँगी, किसी भी व्यक्ति के अंदर से सुषुप्त आत्मशक्ति उसे उन्मादित करके उसके मुँह से उद्गीथ गान निकलवा देगी। इस विश्वास का ऊपरी अर्थ न लें तो इसका तात्पर्य यही है कि ऋषिप्रोक्त गीत आत्मा से उत्थित होते हैं। श्रीअरविंद ने अपने काव्यशास्त्र-विवेचन (Future poetry) में इसी सिद्धांत की मनोवैज्ञानिक एवं योगशास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की है। हमारे चेतन, उपचेतन तथा अतिमानस में चेतना की कई परतें रहती हैं। किसीकी भाषा में ओज एवं बल उसकी चेतना की परत पर, जिससे उसका चिंतन उक्त क्षण में नियंत्रित है, निर्भर करता है। विवेकानंद के स्वर का अपौरुषेय ओज इसी प्रकार का है—

'मृत्यु का ध्यान करो। प्रलय को अपनी समाधि में देखो तथा महाभैरव को अपनी पूजा से प्रसन्न करो। जो भयानक है उसकी अर्चना से ही भय वश में आएगा। संभव हो तो जीवन को भूलकर मृत्यु की कामना करो, तलवार की धार पर अपना शरीर लगा दो एवं रुद्र शिव से एकाकार हो जाओ।'

'मैं भारत में लौह की मांसपेशियाँ और फौलाद की नाड़ी तथा धमनी देखना चाहता हूँ; क्योंकि इन्हींके भीतर वह मन निवास करता है, जो शंपाओं और वज्रों से निर्मित होता है।'

'शक्ति और पौरुष, क्षात्र वीर्य और ब्राह्म तेज से, इनके समन्वय से भारत की नई मानवता का निर्माण होना चाहिए।'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रामकृष्ण परमहंस की महाकाली के कराल रूप की उपासना इसी 'निर्भयता' की साधना है। वेदों से लेकर विवेकानंद तक ऋषियों का यही उपदेश है—'निर्भय बनो, भयानक को कंठ लगाकर भय की वेदना से मुक्त हो जाओ।'

आश्चर्य का विषय है कि वर्तमान चीनी आक्रमण के विषय में भी विवेकानंद ने पचासों वर्ष पूर्व चेतावनी दी थी—

'जब कभी अंग्रेज भारत छोड़ेंगे तो यह हर तरह से संभावित ज्ञात होता है कि चीनी भारत पर आक्रमण अवश्य करेंगे।'

—(स्वामी विवेकानंद, १८९८ में)

यह पुरुषोत्तम शक्ति हमारे बीच में आई और अपना संदेश सुनाकर चली गई। विवेकानंद की एक और बहुत बड़ी देन है। वह है वेदांत के दर्शन को उसके गत हजार वर्षों से जड़ीभूत स्थितिशील (Static) रूप को नष्ट करके वेदांत को गतिमान (Dynamic) दर्शन का रूप देना। वेदांत की स्थितिशील दृष्टिभंगी को उसमें असारता और वैराग्य ही सबसे महत्त्वपूर्ण ज्ञात हुए। परंतु विवेकानंद ने उसे दूसरा रूप दिया। जगत् से वैराग्य का उपदेश तो 'साधन' है, 'साध्य' है मनुष्य को भय से, मृत्यु के डर से मुक्त करना। भय-विमुक्त पुरुष ही वीर हो सकता है। 'एक तुम्हीं सत्य हो। तुम्हारे चारों ओर जो आवरण हैं, जो भय के ईहापूर्ण वंचनामय दुर्ग हैं, वे सब मिथ्या हैं। तुम अमर हो। तुम्हें भय क्यों होगा?'

प्रारंभ में तिलक और बाद में डॉ. राधाकृष्णन् ने वेदांत की विश्व-विजयिनी शक्तियों को समस्त विश्व के सम्मुख रखा। हमारे देश की पुरानी पीढ़ियों ने इस संदेश को सुना। प्ररंतु यह संदेश कुछ लोगों के कर्ण-कुहरों के दुर्भेद्य प्राचीर को चीर न सका। कुछ तो, विशेषत: हमारे उत्तर प्रदेश में, ऐसे भी निकले जो इन स्वरों को सुनने की क्षमता से हीन थे। वे अपने समूचे परिवार को भारतीयता की हवा भी नहीं लगने देना चाहते थे। उनके हृदय एवं आत्मा के कपाटों की अर्गला बँधी ही रही, जिससे अल्प वायु-प्रवेश भी न हो सके। उत्तर प्रदेश की सामंत संस्कृति के सर्वोत्तम रत्न पं. मोतीलाल नेहरू ने (जिनके अन्य गुणों के लिए लेखक के मन में आदर है) अपने घर में कड़ी आज्ञा जारी कर दी थी कि अंग्रेजी छोड़कर अन्य भाषा में घर में बातचीत न हो। इस मनोवृत्ति का मानसिक प्रभाव बड़ी दूर तक गया।

—('इंप्रिंट', अगस्त १९६३ : 'द नेहरूज', पृष्ठ २४)

हिंदी प्रांतों के भाग्य में दु:खद बात एक और है। जिस तरह बंगाल में सांस्कृतिक और बौद्धिक जीवन के अंग-प्रत्यंग कलकत्ता विश्वविद्यालय से नियंत्रित होते हैं, उसी तरह का 'रोल' प्रयाग विश्वविद्यालय अभिनीत न कर सका। कुछ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऑफीसर और कुछ विद्वान् पैदा कर देने से ही विश्वविद्यालय के कार्य की इतिश्री नहीं हो जाती। विश्वविद्यालय जीवन के अंग-प्रत्यंग को संस्कार देते हैं। ब्रिटेन की सांस्कृतिक परिणतियों के स्रोत कैंब्रिज और ऑक्सफोर्ड में मिलता है। इस विशाल महाप्रांत उत्तर प्रदेश का राष्ट्रीय विद्या एवं वाङ्मय के विकास में बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात, मद्रास, केरल, मैसूर के बाद नंबर आता है। यह एक कठोर सत्य है। 'इनटेलेक्चुअल' और 'इनटेलिजेंट' में एक अंतर होता है। आई.सी.एस. वर्ग इनटेलिजेंट की परिधि में आता है। हमारी संख्या, हमारे उत्तराधिकार एवं हमारे महत्त्व को देखते हुए हमारा इनटेलेक्चुअल कांट्रीब्यूशन (बौद्धिक योगदान) उक्त प्रांतों की तुलना में नगण्य इसलिए रहा कि हमारे विश्वविद्यालयों को 'शासक' पैदा करने से ही फुरसत नहीं रही। हम रवींद्रनाथ इसलिए नहीं पैदा कर सके कि हमारे विश्व-विद्यालय हिंदी को कोल-भीलों की भाषा मानते रहे। क्या डॉ. रघुवीर या राहुल सांकृत्यायन किसी विश्वविद्यालय के कुलपति होने योग्य नहीं थे?

आज यह अनवरत प्रचार किया जा रहा है कि हमारा देश शांतिप्रिय देश है। गौरांग महाप्रभुओं की दी हुई उपाधि 'Mild Hindu' से इतना मोह है कि श्रीकृष्ण, तुलसीदास और विवेकानंद की बातों को हम भूल चुके हैं। अनवरत प्रचार हो रहा है कि हमारी आजादी की लड़ाई अहिंसा से लड़ी गई, पर वास्तव में हमारा अहिंसात्मक आंदोलन तो एक राजनीतिक दाँव-पेंच मात्र था। गांधीजी इस देश की नस-नस को पहचानते थे। उन्हें खूब मालूम था कि ब्रिटिश शासन की लाल पगड़ी, कुर्क अमीन का चपरासी भी, दो हजार की आबादीवाले गाँव में भय और त्रास की ऐसी सृष्टि कर देता है जैसे 'बालकांड' में तुलसीदास ने 'देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा' कहकर वर्णित किया है। पाँच मिनट में सारा गाँव खाली। कोई पूर्व के बगीचे में तो कोई उत्तर तरफ कास-'पतलो' की घासों में और कोई पश्चिम ओर गंगाजी के किनारे-किनारे। आज तो लोग धृष्ट हो गए हैं। पर १९२१ के जमाने में यह धृष्टता और साहस नहीं था। भारतीय किसान क्रांतिकारी नहीं है। चंपारन में गांधीजी ने प्राण फूँक दिया, पर अकेले कहाँ-कहाँ मिट्टी से मनुष्य बनाते फिरते। परिस्थिति ऐसी थी कि सशस्त्र क्रांति की बात करना अपने देशकाल-पात्र को भूलना होता। इसीलिए गांधीजी ने वैधानिक क्रांति छेड़ी। यह उनकी सबसे बड़ी स्टेट्समैनशिप (राजनीतिज्ञता) थी। (आचार्य कृपलानी गांधीजी को बहुत नजदीक से समझते थे। उन्होंने अपनी एक पुस्तक 'Gandhi, the statesman' में इस तथ्य का संकेत किया है।) आज जब हम गांधी और बुद्ध की दुहाई देते हैं तो हमारी यह बहुत बड़ी बौद्धिक बेईमानी और पाखंड है। बुद्ध की करुणा और आत्मसंयम एवं गांधीजी की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सत्यनिष्ठा अपने में पूर्ण पौरुषशील है; परंतु हमारी निष्ठा का चित्र दिल्ली के 'अशोक होटल' में मिलता है।

वास्तव में ये लोग बुद्ध और अशोक का नाम इसलिए लेते हैं कि इन्हें श्रीकृष्ण और विक्रमादित्य का नाम लेने में 'डर' और 'शर्म' दोनों लगती है। कहीं इन्हें कोई हिंदू न कह दे। गांधीजी में ये आत्महीनता के भाव कभी नहीं थे। वे निरभिमानी अवश्य थे। जो बात लोकमान्य तिलक ने संसार के सम्मुख मूँछों पर ताव देते हुए कही, उसीको गांधीजी ने दृढ़ परंतु कोमल शब्दों में कहा—'मैं सनातनी हिंदू हूँ।' और वे जीवन-भर इसे कहते गए। उन्हें न डर लगा और न लाज।

—(The outline of Hinduism : Dr. T.M.P. Mahadevan.

क्या इसका कारण यह है कि हम 'आत्महीनता' (इनफीरियारिटी कांप्लेक्स) से पीड़ित हैं? इसका कारण है हमारी बौद्धिक दासता। अंग्रेजी की कुछ क्षेत्रों में आवश्यकता को मानते हुए भी डॉ. राधाकृष्णन् कमीशन की रिपोर्ट में स्पष्ट लिखा है कि भारत का बुद्धि-स्वातंत्र्य तब तक मुक्त विकास न पाएगा जब तक हम अंग्रेजी भाषा के जरिए बौद्धिक विकास करते रहेंगे, दो-चार प्रतिभावान् भले ही इसकी सीमा में बुद्धि-स्वातंत्र्य या मुक्त चिंतन को प्राप्त कर लें; पर यहाँ पर हम समूह या जन-साधारण की बौद्धिक मुक्ति की बात कर रहे हैं। हमारी सोचने की परमुखापेक्षी प्रणाली कितनी गलत है। 'हिंदी-चीनी भाई-भाई। चीनी बौद्ध हैं, अतः वे शांतिप्रिय हैं।' पर इतिहास बताता है कि न तो बौद्ध धर्मावलंबी ही कभी शांतिप्रिय रहे हैं और न चीन का कोई भी दशक कई हजार वर्षों में बिना युद्ध के रहा है। चंगेज खाँ बौद्ध (श्रामणिक) था। जापानी बौद्ध हैं। चीन सदैव गृहयुद्ध से, आपसी मार-काट से पीड़ित रहा। सत्रहवीं शती के ईसाई मिशनरियों के Jesuit Fathers ने यूरोप में एक भ्रांत धारणा फैला दी कि चीनी शांतिप्रिय जाति है। इस बात को तिब्बत को चीनी प्रभुओं को समर्पित करानेवाले राजदूत के. माधव पाणिक्कर ने मार्च या अप्रैल के 'Span' में लिखा है। अतीत-चीन में अपार भौतिक उन्नति हुई। चीनी दीवार से लेकर कागज और बारूद तक उन्हींकी देन है। परंतु स्वतंत्र दार्शनिक चिंतन चीन में कम हुआ। 'कानफ्यूशस' नीतिवेत्ता है और ला-ओत्से रहस्यवादी। आध्यात्मिक दार्शनिक चिंतन की हिंदुओं और ग्रीकों जैसी परंपरा वहाँ नहीं बँधी। पर हम इस तथ्य को सोच भी नहीं सके, क्योंकि स्वतंत्र रूप से हम सोच नहीं सकते। हमारे मन में 'Mild Hindu' की तरह 'Peaceful Chinese' की भी वह मूल धारणा बनी रही। यह है 'उधार' विचारधारा का प्रभाव।

आज का भारतीय जीवन और साहित्य न केवल कर्म एवं निर्भयता को भूल

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चुका है, बल्कि 'आस्था' की भी इसके अंदर धीरे-धीरे मृत्यु हो रही है। कर्म और आस्था—'मेरा स्मरण करो और युद्ध करो'—यही कृष्ण का उपदेश है। न केवल ईश्वर में हमारी आस्था का लोप हो रहा है, बल्कि इसके फलस्वरूप जीवन में आस्थाहीनता और असुरक्षा भाव तथा भय की सृष्टि हो रही है। यह अति भयंकर अवस्था है। एक ओर तो पुरानी आस्था के तंतुओं का हमारे साहित्यकारों ने संहार करना शुरू कर दिया और उनकी जगह पर जब नए मूल्यों की बात चली तो पश्चिमी गुरुओं के घर से 'रेडीमेड' दो-तीन रंगवाली आस्था लाकर सामने रख दी। आधुनिक युग में पश्चिम हमारा गुरु है, तो इसमें तो कोई बुरी बात नहीं। परंतु आस्था के जो नमूने रखे गए, वे स्वतः आस्थाहीन हैं। उनको स्वीकार करने से क्या लाभ? प्रोफेसर टायनबी एवं टी.एस. इलियट की नई ईसाईयत स्वतः अपने में अस्पष्ट है। इसके आयाम और मूल्य स्पष्ट ही नहीं हैं तो इन्हें स्वीकार करने से क्या लाभ? ये अस्पष्ट और उलझे मूल्य हमें कैसे जीवन प्रदान करेंगे? नव्य ईसाईवाद की सबसे बहुचर्चित दिशा है 'अस्तित्ववाद'। इसकी चिंताधारा गड्ड-मड्ड और परस्पर विरोधी जटिलता मात्र है। कीर्कगार्द, कार्ल चेस्पर वही नहीं कहते तो सार्त्र कहता है। सार्त्र नास्तिक है तो कीर्कगार्द आस्तिक। आस्तिकों में भी मतैक्य नहीं। यह एक ऐसा जटिल चिंतन पथ है कि एक समन्वित धारणा नहीं बन पाती। इस अव्यवस्थित फिलॉसफी से हमारे जीवन एवं साहित्य को क्या बल मिलेगा? दूसरी ओर मार्क्सवादी आस्था की बात उठती है; पर इस आस्था के मूल्य निश्चित नहीं हैं। इसके मूल्य राजनीतिक परिस्थितियों के पिछलग्गू रहते हैं।

हमारे साहित्य में 'आस्था' मरी नहीं है। अरविंद और विनोबा के प्रभाव से स्पर्श पाकर आज भी बहुत बड़ी संख्या में साहित्यकार अनुप्राणित हुए हैं। के.एम. मुंशी, गोकांक, दिनकरजी ही नहीं बल्कि नई पीढ़ी में आस्थावान् साहित्यकार हैं। परंतु साधारण रूप से हमारी ग्रेजुएट पीढ़ी के अंतर्मन में जिस 'अनास्था' और 'असुरक्षा भाव' का निवास हो गया है, यहाँ उसकी बात कही जा रही है। एक छोटा-सा उदाहरण देना ठीक होगा।

१९६२ में भारत-चीन युद्ध (चीनी आक्रमण) के अवसर पर लेखक की भेंट भारतीय सेना के एक ऑफीसर से हुई। वह ज़ाट था। उससे कुछ खुलकर बात हुई। पता चला कि हवलदार और उसके नीचे के सिपाहियों ने आदर्श की पूर्ण रक्षा की, परंतु कमीशन-प्राप्त ऑफीसरों ने, विशेषतः जो नीचे से प्रमोशन न पाकर कमीशन द्वारा नियुक्त हुए हैं, अपनी नैतिकता का दिवालियापन ही दिखलाया। कई ने साबुन मिला पानी पीकर कैंप में ही बीमारी का बहाना कर लिया। नदिया-नाव-संयोग से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भेंट होने पर उस जाट से जो बात सुनी, वही कुछ मास बाद पार्लियामेंट में श्री यशवंतराव चव्हाण के मुख से सुनी गई। ऐसा क्यों? जाट का सीधा उत्तर था—असुरक्षा भाव। कमीशन प्राप्त कर बड़े घरानों के लड़के ऊँचा वेतन और सुविधाएँ पाने के खयाल से आते हैं। परंतु अभिजात वर्ग में, विशेषतः 'ब्यूरोक्रेसी' के अभिजात वर्ग में, संयुक्त परिवार की प्रथा नाममात्र को रह गई है। 'मेरे मरने पर मेरे बीवी-बच्चों का क्या होगा? यह भाव उन्हें कायर बना देता है। पुराने ऑफीसरों या अनपढ़ सिपाहियों के सामने यह प्रश्न ही नहीं उठता। उनके मस्तिष्क में इसका उत्तर पहले-ही से वर्तमान है—संयुक्त परिवार, और नहीं तो 'ईश्वर है, वही देखभाल करेगा'। यहाँ पर हम आस्था और अनास्था के प्रभावों की तुलना करके देख सकते हैं।

भारत का आदर्श निरीश्वरवाद कभी नहीं रहा। निरीश्वरवाद व्यक्तिगत स्तर पर दो-चार प्रतिभासंपन्न दार्शनिकों के लिए भारतीय संस्कृति स्वीकार करती है; परंतु जन साधारण के लिए तो वही 'ॐ नमो पुण्डरीकाक्षाय नमः'। यही कारण है कि यहाँ बौद्धों की अधिक दिन तक न चली। वेदांत के तर्क-खड्ग से बचे पूर्वी भारत के बौद्धों को इसलाम के लौह-खड्ग ने समूल विनष्ट कर दिया। लेकिन सुविधावादी फिर उन बौद्ध-मूल्यों की दुहाई बौद्ध-निष्ठा के बिना ही देने लगे हैं। यदि किसीके अंदर बौद्ध-निष्ठा और बौद्ध धर्म का 'मारदहन' वाला करुणासिक्त पौरुष है तो बौद्ध-मूल्यों की महत्ता की रक्षा वह कर सकता है; जबकि निष्ठाहीन पुरुष करुणा और अहिंसा की बात करके पाखंड मात्र फैलाता है।

भारतीय संस्कृति कर्म एवं आस्था का उद्घोष है। हमने जिस मातृमूर्ति की अब तक पूजा की है, वह अनंत विस्तारवाला अनंतमुखी व्यक्तित्व रखती है। वह कल्याणमयी गौरी, महिमामयी लक्ष्मी, कराल काली, रहस्यमयी सिद्धियों की दात्री, दुर्गा, प्रेममयी राधा, आकर्षणमयी रति, सबकुछ है। इंद्र, राम, कृष्ण, अर्जुन, मेघनाद, बलि, बाणासुर ने उसकी उपासना की परंपरा बाँधी है। राणा प्रताप, शिवाजी, तिलक और रामकृष्ण, विवेकानंद उसी परंपरा का अनुसरण करते हैं। आज हम उस परंपरा की अवहेलना करके, धोखेबाजी को आदर्श का जामा पहनाकर, अपनी आत्महीनता को फिलॉसफी का रूप देकर, मार-मर्दन करनेवाले गौतम बुद्ध और दृढ़व्रती महात्मा गांधी को बदनाम करने जा रहे हैं। हम इतने अक्लमंद (इनटेलिजेंट) हो गए हैं कि अपना उल्लू सीधा करने के लिए राष्ट्रभाषा, साहित्य एवं ललित कलाओं से संबंधित प्रश्नों को भी राजनीतिक रूप दे डालते हैं। यदि ऐसा न होता तो हिंदू धर्म के तमिलभाषी पोप, जगद्गुरु कामकोटि पीठाधीश्वर शंकराचार्य प्रभु संस्कृत वाया (Via) अंग्रेजी का समर्थन एवं किसी भारतीय भाषा के राष्ट्रभाषा होने का अप्रत्यक्ष

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विरोध क्यों करते? जगद्गुरुओं की आँखें बंद हैं, और खासी जयंतिया-गारो की पहाड़ियों, नागा प्रदेश, संथाल प्रदेश, बस्तर के निवासियों के सिर पर की शिखाएँ रात-दिन कट रही हैं और मिशनरियों का काम तेजी से हो रहा है; और भारत के मठों के छप्पन लाख धर्म के योद्धा 'अहं ब्रह्मास्मि' कहकर आँखें मूँदकर पड़े हैं। वेदांत के जिस स्थितिशील रूप का खंडन कर विवेकानंद ने गतिमान रूप दिया, वह इन्हें अच्छा नहीं लगता; क्योंकि स्थितिशील स्थितघ्नी की अवस्था में ही मोतीचूर के लड्डू चाभे जा सकते हैं।

□

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भाई फागुन, हिम्मत मत हारना

…आधुनिक चिंतन शैली ने इस देशात्म बोध के प्रति हमें संशयशील बना दिया है। हममें जो बुद्धिमान और संवेदनशील हैं, वे इस स्थिति में पड़कर संशयात्मा बन चुके हैं और जो दुरात्मा हैं, वही उग्र आत्मविश्वास से उबल रहे हैं। देश की आत्मा को पहचानने का अर्थ है देश को पूरे भूगोल-इतिहास के संदर्भ में पहचानना। वे जो यह कहते हैं कि भारत माता का अर्थ मात्र वर्तमान जनगण है, वे या तो भ्रांत हैं अथवा धूर्त हैं और उन्होंने ही 'जनगण' की सत्ता को मात्र 'मतदाता सूची' तक ही सीमित कर दिया है और देश की सत्ता को 'मतदान केंद्र' में। आज की राजनीति के साँड़-भैंसे इस चिंतन की ही रक्तबीजा संतान हैं। देश को राजनीति के बाहर जाकर इतिहास, भूगोल, धर्म, संस्कृति और समाज में पहचानना होगा। ऐसा 'देशात्म बोध' ही सबल और सही देशभक्ति को जन्म देगा। देशभक्ति को छोड़कर और कोई उबरने का रास्ता ही नहीं है।…

चढ़ते फागुन का वसंतागम तो सुंदर है ही, इसका पीत, विरागी पतझर भी कम सुंदर नहीं। इसकी उदासी सुखद है। इसकी उदासी में वैराग्य का मधु है। वैराग्य का भी अपना स्वाद होता है। वह ऐसी उदासी देता है जो मन को सारशून्य या रिक्त नहीं करती, बल्कि संयुक्त और परिपूर्ण करती है। फिर फागुन के परिवेश में तो वैराग्य महाजीवन का संगीत जैसा लगता है। एक ओर आकाश में ऊर्ध्वबाहु पसारे पत्रहीन नग्न शाखाएँ हैं तो दूसरी ओर उन्हींमें से किसी-किसी पर नरम लाल-लाल टूसे फूट रहे हैं। बाग-बगीचे में झरे पत्तों का करुण विस्तार है, तो राह-डगर के आसपास असंख्य घास-फूल साँस ले रहे हैं। अतः फागुन के पतझर की यह उदासी मात्र

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विराग ही नहीं, आश्वासन भी है। ऊपर विस्तीर्ण नीला आकाश, उससे झरती धूप, जिसे 'रूपसी धूप' कहकर पुकारने की इच्छा होती है और नीचे उसमें स्नान कर सनाथ होती यह धरती। पश्चिम हवा का प्रखर मरुत प्रवाह और साथ ही खेतों के दाने-दाने में मधु उतारती उज्ज्वल किरणें। झरता हुआ जीवन, पकहर होता और जन्म लेता जीवन, तीनों साथ-साथ। ये सारे दृश्य मुझे एक ही साथ उदास, संपृक्त, आश्वस्त और परिपूर्ण करते हैं। एक ही अपना जीवन, जो क्षुद्र, दीन और सीमित है। मैं क्या, बड़े-से-बड़े का जीवन भी कहीं-न-कहीं क्षुद्र, दीन और सीमित है, दूसरा है मुझे अतिक्रांत करता हजार-हजार आलोक वर्ष पूर्व से प्रवाहित विश्व जीवन या महाजीवन जो सीमाहीन है एवं नित्य प्रशस्त है। चढ़ते फागुन के पतझर और वसंतागम, दोनों मिलकर जीवन को महाजीवन से जोड़ते हैं और जहाँ जीवन महाजीवन से जुड़ जाता है, वहीं काव्य जन्म ले लेता है। काव्य का बोध तो रस ही होगा। अतः यह उदासी भी सरस है। मैं महाजीवन के इस रूप को मुग्ध भाव से देखता हूँ। यह मात्र अनुभव नहीं, अनुभूति देता है। 'भव' का रूपांतर 'भूति' में होने पर ही अनुभव का रूपांतर अनुभूति में होता है। यह अनुभूति ही लालित्य-बोध है। यह और बात है कि अपने विशुद्ध रूप में यह स्तब्धता है, मौन-मधु है, भाषा में उतरने पर यह घोल बन जाती है। इसके विशुद्ध नग्न निरावरण रूप की दीप्ति मानुषी भाषा कैसे सँभाल पाएगी? अभिव्यक्ति की बाध्यता है कि उसे आवरण देकर भाषा में उपस्थित करे। अभिव्यक्ति कभी भी लब्ध-बोध के विशुद्ध रूप की पूर्णांक समाकृति नहीं होती। ध्यान चित्त से बड़ा होता है। ध्यान की सीमा से नीचे उतरकर चित्त के सीमित परिवेश में बोध पूरा-पूरा अँट नहीं पाता। बहुत कुछ छूट जाता है। जो चित्त में उतरता है, वह भी शब्दों की सीमित शक्ति के कारण और छोटा हो जाता है। अतः व्याकरण शासित भाषा की धरणी में मैं अपने उस मुग्ध, विमुग्ध, तल्लीन अनुभव को कैसे उतारूँ! पर इतना अवश्य कहूँगा कि फागुन की शस्य-पीत धरणी की तुलना में इसका उदार विस्तीर्ण आकाश मुझे ज्यादा मुग्ध और तल्लीन कर देता है। इस आकाश में कहीं कोई घाव नहीं, कहीं कोई व्रणच्छद नहीं, यह नीरुज-निरुपम नीलिमा का निर्बाध मुक्त विस्तार है। क्षितिज से लेकर क्षितिज तक, ओर से लेकर छोर तक यह नीलिमा का क्षमा सुंदर रूप है; कहीं कोई उग्रता नहीं, कोई उत्तेजना नहीं, एक गहरी प्रशांति और तल्लीनता है, ऐसी नीलिमा, अनिर्वाच्य विश्राम का द्योतक है। यह बुद्ध हृदय की नीलिमा है। यह 'शांत, शिवं, अद्वैतम्' की द्योतक है। यह 'शिवोऽहम्' का अवमूर्त्तन है। यह नीलिमा भारतवर्ष की परिभाषा जैसी है। फागुन के इस सूर्य-करोज्ज्वल आकाश को देखकर ही अनुभव हो सकता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है कि नील वर्ण इतना सुंदर, इतना स्निग्ध-कोमल, इतना सगुण-संवेद्य हो सकता है। यह नील आकाश नहीं, ईश्वर का मन है, साक्षात् ईश्वर जैसा है! इससे निरंतर झरती हुई सुंदर रूपसी धूप मन को धो-पोंछकर उसकी सारी दीनता, क्षुद्रता और कलुष को धो देती है। यह चिदाकाश का मायामय सगुण रूपांतर है। इसीसे विश्व में इस नीलवर्ण की संज्ञा ही बन गई 'भारतीय नील'। पर इसका देशी नाम है 'इंद्र नील'। एक अन्य नीलिमा भी होती है, मुदित चक्षु-वारुणी-सुख जैसी गहरी नीलिमा जिसे 'तमस नील' या 'वरुण नील' कहते हैं और दुनिया उसे ही 'ईरानी नील' (पर्शियन ब्लू) के रूप में पहचानती है। इस इंद्र नील या भारतीय नील वर्ण का स्वरूप व्यक्त करता है। शरद् अथवा वसंत का आश्विन या फागुन का हिंदुस्तानी आकाश। यही 'नभ' है, जिसका केंद्र या 'नाभि' है सृष्टि उत्पल का उत्स। और अद्‌भुत है अपनी भाषा की अर्थ-परंपरा। नाभि कमल अर्थात् नभ कमल। नभ कमल अर्थात् आकाश पुष्प अर्थात् 'कुछ नहीं', अलीक, माया। माया अलीक है। पर अत्यंत रूपमय, क्योंकि यह ईश्वर का ही प्रतिबिंब है। प्रतिबिंब अ-वस्तु होता है, पर अ-सत्य नहीं। अतः माया अ-वस्तु होते हुए भी एक सुंदर मुख है, जिससे हम सब आजीवन रागबद्ध रहते हैं। पर 'जिमि मुख मुकुर मुकुर निज पानी।' तो भी इसे हम इस मुख को पूरा-पूरा पकड़ नहीं पाते। सारा जीवन क्या, जन्म-जन्मांतर तक माया के इस 'अ-वस्तु' मुख के पीछे भटकते रह जाते हैं। इस भवारण्य में।

तो नया संवत्सर आ रहा है। सुंदर नीला-नीला संवत्सर। साफ-सुथरी हवाओं वाला संवत्सर। जीव-जीव की धमनियों में बदलते हुए ताजा खून में, फसलों में, मधु उतारती किरणों में, पकहर होते हुए दानों में, आदिगंत, निर्बाध, विस्तीर्ण चटक पीले सरसों के खेतों में सर्वत्र उसके आगमन के संकेत मिल रहे हैं। ऊपर की अपूर्व नीलिमा के जोड़ का तोड़ है यह धरती की पीली साड़ी, ये सरसों के खेत, गोया शुचिता के साथ सौंदर्य का जोड़-तोड़ बैठा दिया गया है। यह पीतिमा यानी चटक पियरी रंग बड़ा ही मंगलमय है। यह मोहक, शांत, शुभ और सौभाग्यमय है। भारतीय मन ने इसे बड़ी श्रद्धा दी है। यह गार्हस्थ्य और दांपत्य का प्रतीक है। यह सुभग है, सुंदर है, निर्मल है, नीरुज है; भले ही इसे आधुनिक बुद्धिजीवी न मानें। आधुनिक बुद्धिजीवी को उसके 'मास्टर साहब' ने पढ़ाया था एक शब्द 'येलो जर्नलिज्म'—'पीत पत्रकारिता' अर्थात् 'प्रतिक्रियावादी पत्रकारिता'। अब पीला रंग प्रतिक्रियावादी है और लाल रंग जनवादी। आसेतुहिमाचल जीवंत साँस लेते हुए 'जन' को वह नहीं जानता। वह उस 'जन' को ही जानता है जो 'मास्टर साहब' की दी हुई परिभाषा में अस्तित्वमान है, यानी उसके जैसे दस-पाँच बुद्धिजीवी साहित्यकार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और विचारक। अत: पीला माने प्रतिक्रियावादी। पर ये सरसों के खेत प्रतिवाद करते हैं। यह हिंदुस्तान की धरती चिल्ला-चिल्लाकर प्रतिवाद करती है, 'तू पढ़ा-लिखा है, पर झूठा है। फिर से पढ़, वाल्मीकि को पढ़, कालिदास और राजशेखर को पढ़, अपने गाँव-देहात, वन-उपवन को पढ़। तभी तेरी बुद्धि का उद्धार होगा। तू अपने रंगों को पहचान, तू अपने रूपों को पहचान, तू अपने 'आपन' जनों को पहचान; सबसे बढ़कर तू अपने को पहचान।' पर वह असमर्थ है, क्योंकि वह बुद्धिजीवी के द्वितीय शैशव' की स्थिति में जीने के लिए प्रतिबद्ध हो चुका है। अत: वह जो चाहे सो माने, पर भारतीय मनीषा पीतवर्ण को चटक प्राणवंत कामना का प्रतीक मानती है। बगीचे की बाड़ पर लगी कनेर आपादमस्तक पीले फूलों से लदी दीपावली बन गई है। इसके चटक पीले फूल की इसकी महिमा है। कर्णिकार (कनेर) के पुष्पों में गंध नहीं है। वे रूप के द्वारा ही उद्दीपन करते हैं। गंध नहीं है, रूप है, मधु है या नहीं, यह तो भौंरे ही जानें। पर मधु होगा जरूर। रूपसी है तो मधुमयी होगी ही! संस्कृत के एक कवि मंख को इसपर एक श्लोक लिखने के कारण 'कर्णिकार' की उपाधि ही मिल गई। 'कर्णिकारमंख' वैसे ही साहित्यिक प्रवाद बन गया। 'कर्णिकारमंख' के उस श्लोक का भावार्थ है—'नासिका ने कर्णिकार के अंदर सुगंध के अभाव की बात उठाई तो उसके रूप पर मुग्ध दोनों नयन नासिका से लड़ पड़े।' 'श्रीकंठ चरित' के टीकाकार जोनराज के अनुसार, कर्णिकार के वर्ण-सौभाग्य की महिमा प्रतिपादित करने के कारण 'मंख' को 'कर्णिकारमंख' के रूप में प्रसिद्धि मिली है। इतना दप-दप तीक्ष्ण सौंदर्य शायद ही किसी फूल में हो। सारा वृक्ष ही सौंदर्य की प्रज्वलित दीपावली बन जाता है। इसका चटक उग्र आकर्षण माया के प्रबल आकर्षण के समानुरूप है। इसीसे यह महामाया का प्रिय पुष्प है। उग्र-उत्तेजक रूप के कारण ही यह बगलामुखी उपासना में विशेष प्रयुक्त होता है और 'वशीकरण अभिचार' में इसका विशिष्ट प्रयोग होता है। भारतीय वाङ्मय कमल, कर्णिकार, पलाश, अशोक और सुगंधित शालमंजरी, आम्रमंजरी आदि वासंती फूलों के बारे में पर्याप्त मुखर है। परंतु चढ़ते फागुन में हम कुछ अनाम और जाने-पहचाने घास-फूलों को भी डाँड़-डगर और घर के आसपास प्रस्फुटित पाते हैं और अपने अहंकारवश इनके शोभा-उत्सव से बेखबर रह जाते हैं। नन्हे-नन्हे सफेद, पीले, बैगनी, नीले रंग-बिरंगे फूल, जो ध्यान से देखने पर ही दृष्टिगोचर होते हैं, चारों ओर छिटके पड़े हैं। सुंदर नीलवर्ण बीच में पीत बिंदुवाले 'बुजकी' के फूल, बैगनी, सफेद फूलों वाली 'प्रासबूटी', अपामार्ग (चिचड़ी) के बैगनी-श्वेत फूल, पुनर्नवा (गंधपूर्णा) की पुष्पिकाएँ, वनमेथी, शंख पुष्पी, नील पुष्पी, प्रस्फुटित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हिरनखुरी की तृण लता; जैसे पुष्पों को जो इतने नन्हे-मुन्ने हैं कि प्यार से 'पुष्प' नहीं, 'पुष्पिका' ही कहना ठीक होगा, कौन देखने जाता है! स्वर्णक्षीरी की सुंदर कटावदार पर चुभनेवाली पत्तियों के बीच चटक पीला फूल दूर से ही दीपशिखा जैसा लगता है। इस स्वर्णक्षीरी का रहस्य यह है कि इसे तोड़िए, तना या पत्ती कहीं भी तो सुनहले रंग का दूध निकलता है। ये घास-फूल प्रकृति के सर्वहारा पुत्र हैं, तो भी उसने अपनी संतान को कोई-न-कोई अलंकरण दे रखा है। गुणविहीन, अनलंकृत तो प्रकृति में कुछ है ही नहीं, चाहे वह वनस्पति हो या जीव हो। प्रत्येक जन और प्रत्येक जाति में कुछ गुण हैं, कुछ 'गुर' या 'ज्ञान' है, उसे स्वीकार करने के लिए हृदय चाहिए और उदार दृष्टि चाहिए। अमुक जाति के पास क्या है, अमुक भाषा के साहित्य में भला क्या रखा है जैसे बातें बेहूदी हैं जिनका यथार्थ से कोई संबंध नहीं। पर ऐसी बातें सुनते-सुनते ही कान पक गए। जड़िमाग्रस्त अहंकार और दुर्धर्ष पक्षपात की तो कोई दवा ही नहीं है।

फागुन का असर तो सब पर हो गया है। चाहे वह अभिजात वट-पीपल और रसाल हों या सेमल-पलाश जैसे 'लीला गोविंद' हों अथवा अपने दरवाजे की कटु-तिक्त नीम हो। सभी उत्कंठित हैं और पीले जीर्ण पत्र गिराकर जीवन को साल-भर के लिए नया कर लेने की तैयारी में हैं। अपने दरवाजे की 'कुब्जा सुंदरी' टेढ़ी नीम भी किसीसे पिछड़ी नहीं है। वैसे अभी यह 'सूखी री यह डाल वसन वासंती लेगी' की स्थिति में ही है। यह अपर्णा हो चली है। पर एक सप्ताह के भीतर ही नरम, ताम्र-हरित पारदर्शक पत्तियों से लद जाएगी। धूप इन पत्तियों से आर-पार होती ज्ञात होगी। सूर्य का मधु पीकर ये पत्तियाँ पुष्ट और हरित हो जाएँगी और तब गुच्छे श्वेत फूलों की ऐसी सुगंधित मंजरियों से ये ढक जाएँगी कि रात-बिरात में अपनी सुगंध द्वारा रातरानी को भी मात दे देंगी। तब कौन कहेगा कि यह कड़वी नीम वसंत श्री का अंग नहीं है! इसीसे तो मैं इसे 'कुब्जा सुंदरी' कहता हूँ। मेरे एकाध मित्रों को इसपर आपत्ति भी है। उन्होंने शब्दकोष में पढ़ लिया है कि 'नीम' शब्द पुंलिंग होता है। होता होगा। परंतु झोंप पर झोंप सुगंधित मंजरियों को धारण करनेवाली इस नीम को मैंने किन्नरी रूप में ही बचपन से जाना है। अपनी लोकभाषा भोजपुरी में तो कभी इसकी पुंलिंग रूप 'निंबवा' नहीं सुना। सदैव तो यह 'निंबिया' ही कही जाती है। नारी कंठ से 'निंबिया कडरिया पर झूलेली हो मइया मोरी…'—माता-गीतिका में सुनता आ रहा हूँ। बचपन से ही प्रवाद सुनता आ रहा हूँ, 'निंबिया रे क़रुआइन तबो सीतल छाँह। भइया रे बिराना तबो दाहिन बाँह'। हमारी अपनी लोकभाषा में आम-कटहल, महुआ, वट-पीपल जैसे बड़ी पागवाले चौधुरी टाइप के दरख्त पुंलिंग हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पर नीम, इमली, जामुन और बेर जैसी खट्टी-मीठी वनस्पतियाँ छोकरीनुमा हैं, अतः स्त्रीलिंग हैं। इसीसे शब्दकोष की थानेदारी की परवाह न करके मैं लोक-भारती के इशारे पर चलता हूँ। अतः यह अपनी टेढ़ी नीम हजार बार 'कुब्जा सुंदरी' कहे जाने की अधिकारिणी है। वैसे भी साहित्य में रचनात्मक स्तर पर थोड़ी-बहुत तोड़-फोड़, थोड़ा आतंकवाद तो चलता ही है। शर्त यही है कि अंतिम समाहार रस की मुद्रा में हो।

लोक तो वेद के आगे-आगे चलता है और इसीसे पंचांग की घोषित तिथि से पंद्रह दिन पहले ही लोक-मानस मान लेता है कि संवत्सर बदल गया। फागुन शुक्ल पूर्णिमा के बाद है और गा-बजाकर, हुड़दंग मचाकर नववर्ष का अग्रिम स्वागत कर लेता है। पर वह पूर्णिमा अभी दूर है। अभी तो महाशिवरात्रि बीती है। प्रतिवर्ष की तरह मैंने शिव और महागौरी की अर्चना इस बार भी की है, परंतु 'बम भोले' के बाराती के रूप में ही। अतः व्रत नहीं रखा। कहीं बाराती भी भूखा रहता है? वह भी जब विश्वंभर जैसा दूल्हा हो और अन्नपूर्णा जैसी दुलहिन हो। अतः और दिनों की तुलना में कुछ अधिक ही भोजन हो गया। आज तो फागुन शुक्ल द्वितीया है। वस्तुतः श्रृंगार गौरी का दर्शन मैं प्रति शुक्ल द्वितीया को ही करता हूँ। पुराना विश्वास है कि प्रत्येक कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को देवी की सीमंत रेखा का दर्शन हो जाता है प्रातः अरुणिमा में, और प्रत्येक शुक्लपक्ष की द्वितीया को यह आकाश ही श्रृंगार गौरी का ललाट बन जाता है। इसीसे बहुत दिनों की मेरी आदत है द्वितीया के चंद्र को देवी के प्रशस्त भाल का श्रृंगार मानकर देखना। जिस मास ऐसा नहीं कर पाता हूँ, सबकुछ ठीक-ठीक नहीं गुजरता है। 'अर्ध चंद्र बिताड़न' और जूते भले ही सिर पर न पड़े हों, पर महीना खाली-खाली जाता है, मन खोया-खोया रहता है। अतः चेष्टा करता हूँ, इस दिन चंद्र दर्शन की। मेघ-मारुत, तमस-रजस या स्मृति-विभ्रम की बाधाएँ तो हैं ही। अतः सर्वदा यह हो नहीं पाता। यह भी स्वीकार करता हूँ। पर आज देवी प्रसन्न है। आज फागुन शुक्ल द्वितीया है। आकाश अपने क्षमा-सुंदर शिव रूप में मुझपर उदार है। मैं इस क्षण-प्रतिक्षण सँवराती हुई साँझ में पश्चिमी दिगंत पर चंद्ररेखा दर्शन कर रहा हूँ। व्रक्रिम, दक्षिणावर्त्त मेरुवाली चंद्ररेखा ने आकाश को भवगती 'चंद्रलेखा' का भाल बना दिया है। यही श्रृंगार गौरी का असली भाल है, शाश्वत ललाट है; जिसकी 'लेखा' या अलंकरण है यह द्वितीया का द्विजचंद्र। औरों की बात तो नहीं जानता। सबका अपना-अपना स्वभाव है और फिर ये तो अगम-अगोचर अकथ-अगदित अनुभव हैं, इनकी 'स्वर लिपि' भी अगदित है, तो इसे 'गद्य' कैसे बनाकर कहूँ। पर भाई, मेरी आँखें तो इस क्षण में सचमुच 'नयन' बन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाती हैं। आँखें तो रात-दिन सही-गलत, सार्थक-निरर्थक सबकुछ देखती ही रहती हैं। पर सर्वदा नयन-क्रिया नहीं घटित होती। 'नयन: नयति' तब नयन मुझे अर्थात् मेरे 'स्व' को बाँह पकड़कर खींचते हुए अनुभव के एकांत में ले जाते हैं। नयन वह है जो मन को ढोकर ले जाए। ऐसे में आँखें मन का वाहन बन जाती हैं। वाहन नहीं बल्कि विमान कहें तो ठीक होगा। हजार-हजार दृश्य देखते हैं, हजार-हजार चेहरे गुजरते जाते हैं, पर सभी तो मन की नोट बुक में दर्ज नहीं होते हैं और जो दर्ज होते हैं, उनमें कोई-कोई ही ऐसे होते हैं कि नयन मन का यान बन जाएँ। आँखों के 'नयन' बन जाने की बात शायद इस शताब्दी की प्रस्तरीभूत बुद्धि को अटपटी लगे। पर ऐसे क्षणों में मैं इस शताब्दी के भीतर रहता कहाँ हूँ! मैं तो तब काल-प्रवाह के बाहर आ जाता हूँ। 'मन-पवन' की चंदन नौका पर, महाकाल के प्रवाह पर स्थित होकर ही तो शृंगार गौरी का दर्शन संभव है। वैसे सब देखने-दिखाने की लीला का सूत्रधार भी तो वही है। वह मनुष्य की मेधा में बैठकर नित्य उसे व्यवस्थित कर रही है, स्मृति-मति-प्रज्ञा के भीतर की टूटन-विघटन आदि को ठीक कर उसे व्यवस्थित वही करती है। मैं क्षितिज पर विस्तीर्ण उस आकाश में स्पष्ट देख पाता हूँ, चंद्रलेखा को, क्षितिजव्यापी भाल को, तिनपतिया बेलपत्र जैसी तीन आँखों को। ललाट के नीचे की नासिका, नथ, सुंदर ओष्ठाधर आदि क्षितिज रेखा के नीचे अदृश्य रहते हैं। यही शृंगार गौरी का चिदंबरा आकाश रूप है।

यह बीता हुआ शिशिर, देवी का तपस्या पर्व था। देवी अपर्णा थी। अत: उसकी सगुण आकृति यह निसर्गश्री भी पत्ते झाड़कर अपर्णा बन गई। पतझर की उदासी वैराग्यमयी लगती है। पर जैसा मैंने अभी कहा है, यह उदासी रिक्त नहीं करती है, परिपूर्ण करती है; क्योंकि यह तपस और वैराग्य की उदासी है। यह वैराग्य 'विराग' नहीं लाता बल्कि राग को और अधिक सौभाग्य-सुंदर करता है। इसीसे शिशिरकाल यानी माघ मास एक ही साथ अस्तराग और पूर्वराग दोनों का काल है। यदि यह पुराने संवत्सर का अस्तराग है तो आनेवाले का पूर्वराग बनकर वसंत पंचमी का श्री उत्सव भी मनाता है। अत: महामाया के इस तप को नमोनमन, शिशिर को नमोनमन और साथ ही आनेवाले वसंत की माधवी को नमोनमन। यह माघ की वसंत पंचमी अपने भीतर आनेवाले फागुन का बीज धारण करती है। पूरा फागुन कृष्णपक्ष उस बीज के अंकुरण की प्रतीक्षा है और शुक्लपक्ष की प्रतिपदा उस अंकुर की प्रथम पत्ती है। प्रतिपदा से पूर्णिमा तक विश्व-प्रकृति में और जीव-जीव की देह के भीतर वसंत की वह सोमलता पत्ती-दर-पत्ती बढ़ती जाती है। चैत्र-वैशाख का मधु उसीका निचोड़ है। वसंत की इस माधवी का रूप हिंदी साहित्य में जिस कवि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के मन की मधुमति भूमि में सर्वाधिक प्राणवंत हुआ है, वह कवि है सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'। वसंत पंचमी का संदर्भ आते ही उनका पुण्य स्मरण हो जाना स्वाभाविक है। तुलसी के बाद इस हिंदी साहित्य में निराला की कविता में ही भारतीय मनोभूमि का पूर्णांग, सानुपात, समालंकृत और सरस अवतरण हुआ है, जिसमें वाङ्मयी और लौकिक प्रज्ञाएँ परस्पर को पूर्ण करती हुई ज्ञात होती हैं। उनके काव्य में प्रकृति-मनुष्य और ईश्वर तीनों परस्पर रूप से संयुक्त चलते हैं और कहीं कोई अवदमन नहीं, कहीं कोई संचित कटुता नहीं, कहीं कोई अश्लीलता नहीं। अश्लीलता और गलित कटुता का स्रोत तो अवदमन ही होता है। निराला में कहीं कोई अवदमन नहीं था। फलतः न तो रिरंसा थी और न हिंसा। आधुनिकता अपने इस अपराध-बोध को घटाटोप दार्शनिक और राजनीतिक मुहावरेबाजी से ढकती है, तो भी हिंसा के प्रति उसकी आतुर लोलुपता उसके सारे कृत्यों में अभिव्यक्त हो ही जाती है, चाहे राजनीति हो या साहित्य हो। निरालाजी की एक कविता है—

'ज्ञान की तेरी तुरी है
आसुरी माया दुरी है
किरण की राखी प्रकृति ने
हरित कर बाँधी विभव के
चरण कमलों के चढ़ाए
भार खगकुल कंठ रव से
कमल के खोले कटोरे
मधु भरे, फेरी धुरी है।
ध्यान में मुनि-मन मने हैं
वेद, विधि, वाणी, नियंत्रण
सर्व कर सिमटकर वे
कर रहे हैं समाहित मन
बीज में वट विटप जैसे
पौर में जैसे पुरी है।'

प्रथम दो पंक्तियाँ गीत का 'ध्रुवा' या टेक हैं, जिनका संदर्भ केंद्र देवी अर्थात् ईश्वर है। ईश्वर ही मनुष्य को मनुष्य से और मनुष्य को प्रकृति से जोड़ रहा है। वही महाजीवन में तरंगवत् सक्रिय हमारे जीवन की 'टेक' है। प्रथम छंद या 'पैरा' का संबंध प्रकृति से है तो दूसरे का 'मनुष्य' से। प्रकृति विभव अर्थात् विश्व-श्री के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हरितकर पल्लव पर किरण की राखी बाँधी है, उसके चरण कमलों के प्रति खगकुल के कंठरव का जो 'भार' (अर्घ्य या अंजलि) अर्पित किया है, उसीके माध्यम से, अर्थात् खगों की उस 'प्रभारी' से, कमलों के मधु-भरे संपुट को अनावृत किया है। यह वैश्विक श्री या विभव प्रकृति का ही आत्मरूप है, जिसकी पूजा वह स्वयं कर रही है। अर्थात् वह अपना श्रृंगार अपने आप कर रही है। यह काल के एकांत में प्रकृति का आत्मश्रृंगार है। दूसरे पैरा में 'मनुष्य' आ जाता है, अपने सद्सत्त्व को धारण करके वह प्रतिष्ठित है। मुनियों का मन ध्यान में लीन है। वे अंतर्ज्ञान (वेद), विधि (विधान), शास्त्र-वाणी एवं आत्मानुशासन के भीतर अपने को समेट चुके हैं और मन को समाहित कर रहे हैं कि वह, उनका ध्यानलीन मन, महा अस्तित्व को अपने में वैसे ही धारण कर ले जैसे बीज पूरे विटप को, नन्हा होने के बावजूद, सारी वानस्पतिक सत्ता को अपने अंतराल में धारण करता है अथवा जैसे एक नागरिक (पौर) अपनी पुरी (नगर) की सांस्कृतिक सत्ता या भावसत्ता को धारण करके जीता है। एक नागरिक के बोलने-चालने में, व्यवहार में, उसका नगर अभिव्यक्ति पाता है; अर्थात् समूह की भाव-सत्ता या सांस्कृतिक सत्ता बीज रूप में व्यक्ति में निहित रहती है। व्यक्ति महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति 'सद्' है तो समूह भी 'सद्' होगा, अन्यथा नहीं। कवि ने लीक से हटकर एक बड़े सामाजिक सत्य को कह दिया है। रोज-रोज सुनते हैं कि 'समूह में व्यक्ति की सत्ता निहित है' और इस बात को अपने-अपने व्यक्तिगत स्वैराचार को छिपाने के लिए कभी-कभी कुतर्क के रूप में भी पेश किया जाता है। पर निराला 'पौर में जैसे पुरी है' कहकर लीक से हटकर सही मर्म पर उँगली रख रहे हैं, वह भी अत्यंत सघन बुनावटवाली भाषा में। काल के धुरी-परिवर्तन ('फेरी धुरी है') और मनुष्य के 'सद्रूप का चित्र, दोनों को अप्रत्यक्ष रूप से जो बात जोड़ती है वह है 'ज्ञान की तेरी तुरी है, आसुरी माया दुरी है'। यह गीत निराला के सिद्धमन में प्रसूत है। इसकी भाषा भी दिव्य है। लोक-जीवन से लाया हुआ मुहावरा 'भार अर्पित करना' भी बड़े आकर्षक ढंग से आया है। देवी की पूजा में 'भार' (पुण्य या नैवेद्य की अंजलि) चढ़ाते हैं। भड़भूँजा अन्न-भर्जन का शुल्क जो लेता है, वह भी अन्न 'भार' होता है। मतलब यह कि वह अपनी 'भड़शाला' को दुकान नहीं मानता। उसका जलता हुआ भाड़ उसके लिए कालिका या देवी है। वह अन्न-भर्जन के प्रारंभ में पहली खेप से एक मुट्ठी निकालकर भाड़ की 'माँग' (सीमंत) पर रख देता है। निराला गाँव-देहात से जुड़े थे। उन्हें यह मुहावरा ज्ञात था। पूरी कविता में आर्ष और लौकिक संस्कारों के बिंब परस्पर एक-दूसरे से संपृक्त हैं और मनुष्य-ईश्वर-प्रकृति का 'त्रिक' तो व्यक्त है ही, 'ग्राम' और नगर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दोनों इस छोटे से गीत में उपस्थित हैं।

निराला ने यह गीत १९४९ में लिखा था, जब भारतीय इतिहास का धुरी-परिवर्तन पर्व चालू था। हाल में ही देश स्वतंत्र हुआ था। राजनीति और 'राजनीतिक संस्कृति' की वर्तमान सर्वग्रासी रूप कल्पना के बाहर की बात थी। आज तो आसेतु हिमाचल राजनीति के भैंसे ही दौड़ रहे हैं। एक-से-एक तीक्ष्ण शृंगधारी रतनारचक्षु महिषासुर ताल ठोककर हँकड़ रहे हैं, 'रत्नभुजी वयम्'। उनके झुंड पंचनद, गंगा-यमुना, द्राविड़ उत्कल-बंग सर्वत्र उद्दाम विहार में रत हैं। वे हवा के रुख पर दिशा बदल-बदलकर दौड़ रहे हैं। अब ये भैंसे ही देश के महानायक हैं। वे पुराने नायक गिरते गए। पर अपने पीछे नए अश्वारोही तैयार करने का प्रयत्न नहीं किया। उनके अनुयायी उनकी लाश का कवच-कुंडल लूटने में ही व्यस्त रहे। आज पुरानी सूची 'दाखिल-खारिज' कर दी गई है। नए नायकों में कामना और लोभ का काला खून हँकड़ रहा है। ये सरेआम 'डेमोक्रेसी' को पटककर बलात्कार कर रहे हैं। पर कब तक ऐसा चलेगा? तब तक जब तक कि 'इंडिया' की जगह 'भारत' न आ जाए, 'डेमोक्रेसी' की जगह अपनी भाषा में 'जनतंत्र' प्रतिष्ठित न हो जाए। आज तो 'जन' या तो राजनीतिक सिद्धांतकारों की परिभाषा में जबरदस्ती हाथ-पैर तोड़कर बैठाया गया परिभाषित 'जन' (और उस परिभाषा के बाहर जो है वह 'जन' बहिष्कृत माना जाता है?) है, अथवा मोटे तौर पर निर्जीव 'मतदाता सूची' है। यह 'जन' जन है ही नहीं। असल जन तो आज आसेतुहिमाचल एक विदेशी भाषा और एक विदेशी चिंतन-पद्धति के वर्चस्व द्वारा वंचित करके रखा गया है और इस कूट षड्यंत्र की दार्शनिक युक्तियाँ तैयार करते हैं साहित्य और शिक्षा में स्थापित बुद्धिजीवी गण। पर अभी देर है। अंग्रेज गया, 'हिंदरेज' मालिक बना। जब 'हिंदरेज' हटेगा तो वह जन आएगा और जनतंत्र आएगा। तब ये महिषासुर अपने आप समाप्त हो जाएँगे। देश की अंतर्निहित आत्मशक्ति और इसकी पुंजीभूत 'राष्ट्री' शक्ति का जागरण निश्चय ही होगा। तब तक ये भैंसे आसेतुहिमाचल वसुंधरा को रौंद लें, यह 'सुजलां सुफलां शस्य श्यामला' मही इनकी शाश्वत जमींदारी नहीं हो सकती।

वर्तमान स्थिति का एकमात्र समाधान 'देशात्म बोध', 'देश के आत्म' (सेल्फ) की सही पहचान से, सही राष्ट्रीय संवेदना से ही देशभक्ति की सही आकृति मन-बुद्धि और आत्मा के स्तर पर उपलब्ध हो सकती है। आधुनिक चिंतन शैली ने इस देशात्म बोध के प्रति हमें संशयशील बना दिया है। हममें जो बुद्धिमान और संवेदनशील हैं, वे इस स्थिति में पड़कर संशयात्मा बन चुके हैं और जो दुरात्मा हैं, वही उग्र आत्मविश्वास से उबल रहे हैं। देश की आत्मा को पहचानने का अर्थ है देश को पूरे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भूगोल–इतिहास के संदर्भ में पहचानना। वे जो यह कहते हैं कि भारत माता का अर्थ मात्र वर्तमान जन गण है, वे या तो भ्रांत हैं अथवा धूर्त हैं और उन्होंने ही 'जन गण' की सत्ता को मात्र 'मतदाता सूची' तक ही सीमित कर दिया है और देश की सत्ता को 'मतदान केंद्र' में। आज की राजनीति के साँड़–भैंसे इस चिंतन की ही रक्तबीजा संतान हैं। देश को राजनीति के बाहर जाकर इतिहास, भूगोल, धर्म, संस्कृति और समाज में पहचानना होगा। ऐसा 'देशात्म बोध' ही सबल और सही देशभक्ति को जन्म देगा। देशभक्ति को छोड़कर और कोई उबरने का रास्ता ही नहीं है।

□

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारत माता और कमठ-खोल के बुद्धिजीवी

"'अंग्रेजी के उत्तराधिकार सूत्र से प्राप्त इस सुरक्षित कमठ-खोल के जीव ही आज कलम और जबान का काला बाजार खोलकर बैठे हैं। दूसरी ओर, देश जहन्नुम की ओर 'प्रगति' करता जा रहा है। आज अखंडता-एकता और धर्मनिरपेक्षता की बात सभी कर रहे हैं और सभी-के-सभी जघन्यतम जातिवाद-संप्रदायवाद को महत् प्राप्ति की खुलेआम सीढ़ी बनाकर ऊँचे उठ रहे हैं। राजनीति का अपराधीकरण तो पुरानी बात हो गई है। अपराध का राजनीतिकरण अब सफलता का सबसे सीधा राजमार्ग बन गया है। फलतः देश की 'अस्मिता' तो बाद की बात है, देश का 'अस्तित्व' ही खतरे में पड़ता जा रहा है।'"

बहुत पहले पं. जवाहरलाल नेहरू की एक पुस्तक 'हिंदुस्तान की समस्याएँ' पढ़ी थी, जो उनके नए-पुराने लेखों का संकलन है। पुस्तक महायुद्ध से पूर्व ही निकली थी। इसका प्रथम निबंध है 'भारत माता की जय'। इसकी शुरुआत एक घटना को लेकर होती है। नेहरू उत्तर प्रदेश या पंजाब के ग्रामीण अंचलों में दौरे पर थे। एक जगह कुछ भोलेभाले किसानों ने उनके स्वागत में नारा लगाया—'भारत माता की जय'। नेहरू ने उन किसानों से पूछा, 'यह भारत माता क्या है, कौन है?' किसीने कहा 'पृथ्वी' है, किसीने कहा 'देवी-देवता', किसीने और कुछ। तब नेहरू ने समझाया कि 'भारत माता' यह धरती या कोई देवता या व्यक्ति नहीं, बल्कि इस देश की जनता ही 'भारत माता' है; कोई बेजान या कल्पित सत्ता नहीं, बल्कि 'जन गण' ही 'भारत माता' अथवा 'भारत' है। उस समय ऐसा लगा था कि नेहरूजी बिलकुल ठीक कह रहे हैं। शुद्ध तर्क-बुद्धि से देखने पर तो यही व्याख्या सही है। पर आज लगता है कि यह व्याख्या सही होते हुए भी अधूरी है। यह व्याख्या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आधुनिक बुद्धिजीवी के आस्था-भंजन अभियान में एक हथियार बन गई है, तथा 'भारत = जन गण' का समीकरण आज विकृत होकर 'भारत = जन गण = मतदाता सूची' बनकर रह गया है। आज की राजनीति ऊपर से चाहे जो विदग्ध और बौद्धिक शब्दावली बोले, पर वह भारतवर्ष को 'मतदाता सूची' से अधिक नहीं मानती। भारतीय जनता का मन भी धीरे-धीरे पारस्परिक विनय और रागात्मक संबंध भूलकर अपने को 'मतदाता सूची' मानने की ओर अग्रसर हो चुका है तथा बुद्धिवाद के कमठ खोल के भीतर निवास करनेवाला आधुनिक बुद्धिजीवी देशात्म बोध या देशभक्ति की बात को कभी पुनरुत्थानवाद से जोड़कर देखता है तो कभी सस्ती भावुकता से; जिससे जुड़ने में उसके बुद्धिवाद की तौहीनी है और भारत चेतना का निरंतर चरित्र-हनन करना ही उसकी समझ से उसकी बहादुरी है। यही उसके जाग्रत विवेक का मुख्य लक्षण है। इस नए बुद्धिवाद की व्याख्या उसके वर्तमान विश्वविद्यालयी शिक्षा प्रणाली तथा अंग्रेजी के माध्यम से की है।

भारतवर्ष के 'दक्षिण' और 'वाम' दोनों किस्म के बुद्धिजीवियों की मानसिकता इस बिंदु पर समान है; यद्यपि उनके लक्ष्य में भेद है। वे 'हिंद' या 'भारत' से जुड़ी किसी भी अवधारणा, तथ्य या संस्कार को हेय, फालतू और प्रहार्य मानते हैं और कभी वैज्ञानिक बुद्धिवाद अथवा आधुनिक दृष्टि के नाम पर, तो कभी जनवादी प्रासंगिकता के नाम पर 'भारत बोध' या 'देश बोध' को वे 'मूर्तिपूजा' और जन-विरोधी दुरभिसंधि घोषित करते हैं। यहाँ तक कि हिंदी भाषा तक को वे बरदाश्त करने के लिए तैयार नहीं; क्योंकि भारतीयता के साथ यह भाषा अत्यंत घनिष्ठ रूप में मूल संश्लिष्ट है और इनकी महत्त्वाकांक्षा है इस देश के जन समाज को छिन्नमूल करना। उन्नीसवीं शताब्दी का अंग्रेज पादरी जो चाहता था, वही चाहते हैं बीसवीं शती के जनवादी वामपंथी भी। वही भाषा, वही ध्येय और चरित्र-हनन के वही सूत्र। ऐसा क्यों? ऐसा इसलिए कि भारतीय वामपंथी आंदोलन नवशिक्षित मध्यवर्गीय (बुर्जुआ) आंदोलन है और इसकी धात्री इंग्लैंड की ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी है, जबकि इसकी आत्मा में वही लॉर्ड मैकाले बैठा है, जिसका चरम स्वप्न था 'धर्मनिरपेक्षता' के मासूम मुखौटे के भीतर 'संस्कृतिनिरपेक्षता' एवं 'स्वदेशनिरपेक्षता' की स्थापना। फलतः, दक्षिणपंथी तथा वामपंथी, दोनों की मानसिकता के भीतर भारत बोध या भारत चेतना के प्रति मात्र विरक्तता ही नहीं, एक उग्रकामी 'नाजी' या 'फासिस्ट' किस्म का खूँखार विरोध भी है। जिन वामपंथियों और दक्षिणपंथियों में यह भाव नहीं विकसित हो पाया, जिनके संस्कार छिन्नमूल नहीं हो पाए, वे घटिया या कुजात माने जाते रहे हैं। ऐसी ही हालत फ्रांस के बुद्धिजीवियों की द्वितीय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

महायुद्ध के पूर्व थी, जिसे आंद्रे मारलो ने स्पष्टत: स्वीकार किया है। फलत: फ्रांस जर्मनी के एक तमाचे में ही ढह गया और अंग्रेजों का शरणापन्न हो गया। अंग्रेजों की हालत भी कुछ ऐसी ही थी; परंतु अंग्रेज अपने को शतश: छिन्नमूल नहीं कर पाया था, इसीसे वह पहले दाँव में गिरकर फिर उठ खड़ा हुआ।

महायुद्धोत्तर काल के प्रसिद्ध उपन्यासकार जॉर्ज आरवेल ने तीसोत्तरी के अंग्रेजी साहित्य को लक्ष्य करके लिखा है, 'तीसोत्तरी के खतरनाक वर्षों में वामपंथी लेखक ब्रिटेन के मनोबल और नैतिक बल को तिल-तिल करके काट रहे थे। वे कभी शांतिवादी बनते थे तो कभी उग्र रूसपंथी; परंतु सदैव ही ब्रिटिश-विरोधी रहते थे। अंग्रेज जाति का मनोबल और नीतिबल सदैव कमजोर होता रहा। यदि यही समझकर कि अंग्रेज अब पतनोन्मुख, गलित जाति बन गए हैं, फासिस्ट देशों ने लड़ाई छेड़ दी तो इसके लिए आंशिक रूप से जिम्मेदार है वामपंथियों द्वारा किया गया अंतर्ध्वंस या 'भीतरघात'। भारतीय बुद्धिजीवी अब भी तीसोत्तरी की भ्रांत मानसिकता में ही जी रहा है और इस मानसिकता का उत्तराधिकार उसे मिला है अंग्रेजी के माध्यम से तथा उच्च शिक्षा के तथाकथित आधुनिक संस्कारों से; जिससे हमें एक ओर तो वैज्ञानिक चिंता-पद्धति मिली, पर साथ-ही-साथ अपने देश के प्रति और देश बोध की एक हीनता बोध और अंधी शंका भी मिली। इसी अंधी शंका और हीनता बोध के कारण १९४७ के १५ अगस्त से ही हमारा बुद्धिजीवी उस प्रत्येक बात के प्रति शंकाशील हो गया, जो १९४७ से पहले स्वतंत्रता-समर में हमारा मुख्य उपजीव्य और प्रेरणास्रोत थी और उसे 'भारत माता', 'वंदेमातरम्', 'देशप्रेम', 'देशभक्ति' जैसे शब्दों में नाजीवाद की गंध मिलने लगी। एक ओर राष्ट्रीय एकता और संहति की बातें करना और दूसरी ओर हजार-हजार वर्षों से देश को एकता और संहति में स्थिर रखनेवाले मूल संश्लिष्ट सूत्रों का निरंतर चरित्र-हनन, सही द्विधाग्रस्त चरित्र इस बुद्धिजीवी की भूमिका रहा है। वस्तुत: यह भारतीय बुद्धिजीवी एक कमठ-खोल के भीतर निवास करता है, जिसपर तीसोत्तरी की विचारधाराओं की कड़ी परतें हैं और विचारधाराओं का ज्ञान उसे अंग्रेजी के माध्यम से हुआ है। इस देश में तीन हजार वर्षों से एक खास किस्म की चिंतन-पद्धति के जरिए व्यक्ति, समाज, देश और काल के चिंतन-मनन और अनुपालन हुआ और इसके तीन हजार वर्षों के वाङ्मय तथा संस्कार-पद्धति और क्रियाकलाप को आधुनिक बुद्धिजीवी ने एक सर्वथा भिन्न चिंतन-पद्धति से (जो पश्चिम के साम्राज्यवादी स्रोत से आयात की गई) देखा-सुना, पढ़ा और पढ़ाया। इस विडंबना के फलस्वरूप कुछ पूर्वाग्रह और गलतफहमियाँ पैदा हुईं और उन्हींको अपने बुद्धिवाद का मौलिक लक्षण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मानकर वह कमठ-खोल के भीतर अपने को सुरक्षित करके बैठ गया है। वास्तविकता क्या है, इससे उसका कुछ लेना-देना नहीं है। वह अपने कमठ-खोल के भीतर, अपनी पढ़ी हुई शब्दावली के माध्यम से इसकी कुछ और ही व्याख्या करता रहता है तथा शेष भारतवर्ष से यह आग्रह करता है कि हम अपने अनुभूत सत्य को मिथ्या मानें और उसके कल्पित सत्य को सही मानें। इसी प्रक्रिया के तहत वह 'भारत माता' या 'भारत' शब्द को उग्र यौधेय राष्ट्रवाद का प्रतीक मानता है। आधुनिक राष्ट्रवाद उन्नीसवीं शती के पश्चिमी जगत् की उपज है और 'राष्ट्र', 'देश' या 'धरती' की हजार-हजार वर्षों से चली आ रही भारतीय अवधारणा से उसका कोई संबंध ही नहीं है। फलतः, देश की आत्मा की मौलिक प्रवृत्ति को न समझते हुए, वह देश के स्वाभिमान का, उसके अंतर्निहित आत्मविश्वास का निरंतर हनन करता जा रहा है। देश का आत्म-हनन ही उसके बौद्धिक क्रियाकलाप की मूल विशिष्टता है। वह अपने भीतर के शंका के भूतों से, अपनी ही परछाईं से निरंतर जूझ रहा है और पीछे घूमकर देख नहीं पाता कि वास्तविकता के असुर कहाँ-कहाँ हैं।

मैं यह मानता हूँ कि 'भारत' को मात्र 'जन गण' मानना सही होते हुए भी अधूरी बात है, क्योंकि इसमें 'मातृशक्ति' के भाव को अस्वीकृत कर दिया गया है और फल हुआ है कि 'जन गण' की जनशक्ति में 'भ्रातृशक्ति' का आवेश नहीं आ पाया है। 'माँ' के भाव की अनुपस्थिति में 'भाई' का भाव आ कैसे सकता है। फलतः आज भारतवर्ष में उत्तेजित 'जनशक्ति' तो है, परंतु उसके भीतर 'भ्रातृत्व' यानी भाईचारे का भाव अनुपस्थित है। वह सत्तालोभी राजनीतिक द्वारा उत्तेजित की गई परस्पर के प्रति हिंसाकामी भीड़ मात्र है। 'भ्रातृ-भाव' का जागरण तब तक नहीं होता, जब तक कि हम देश के प्रति मातृ-भावना से प्रेरणा न लें और अपनी पहचान को अपनी धरती और अपने 'इतिहास-भूगोल-सातत्य' में रखकर परिभाषित न करें। 'जन गण' के स्थान पर 'भ्रातृगण' की प्रतिष्ठा के लिए जरूरी है कि हम 'जन' को 'वर्ग' या 'पार्टी' की इकाई और समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र की 'इकाई' से अधिक प्राणवंत और सजीव सत्ता के रूप में देखें। यह तभी संभव है जब हम स्वीकार करके चलें कि मनुष्य की सत्ता 'मनुष्य, प्रकृति और ईश्वर' के 'त्रिक' के रूप में प्राणवंत है। हम यह समझें कि जिस भारत माता को हम 'जन गण' की समाकृति मानते हैं, वह 'जन गण' मानवीय संसाधन की इकाई मात्र नहीं बल्कि भारतीय मनुष्य, भारतीय पृथ्वी तथा भारतीय ईश्वर (अर्थात् संस्कृति और धर्म) का 'त्रिक' है, जिसमें कोई भी उपेक्षणीय और महत्त्वहीन नहीं है। अतः यह धरती भी 'भारत माता' है और यह 'वंदेमातरम्' की देवी शक्ति भी भारत माता है। इन दोनों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को अस्वीकृत करके केवल जन गण की बात करना भारतीय जनता को राजनीति और अर्थशास्त्र की प्राणहीन-रूपहीन-संवेदनाहीन इकाइयों के समवाय के रूप में देखना है। इस प्रकार दृष्टि किसी प्रकार के रागात्मक बोध को जन्म नहीं दे पाती है। न तो देश के प्रति और न परस्पर जन-जन के प्रति। बिना रागात्मक बोध के भ्रातृत्व-भाव का आहरण संभव नहीं और ऐसा करना उन्हींकी दृष्टि में ठीक हो सकता है, जो भारतीय जाति को इतिहासविहीन जाति के रूप में देखने की दुरभिसंधि लेकर चल रहे हैं।

परंपरागत चिंतन-पद्धति में जो 'देश' या 'राष्ट्र' का विचार है और जिसका सूत्रपात वैदिक युग से होता है, वह आज की पश्चिमी परिभाषाओं से नितांत भिन्न है। भारतीय दृष्टि 'राष्ट्र' और 'देश' को 'महापृथ्वी' का अंग मानती है। ऋग्वेद में 'देश' या 'मातृभूमि' के लिए 'पृथ्वी' शब्द आता है और 'भारत' का विचार हमारे वाङ्मय में 'पृथ्वी' की समाकृति के रूप में विकसित हुआ है तथा यह पृथ्वी 'महापृथ्वी' का एक अंग है। महापृथ्वी में देश के प्राणी, जीव, वनस्पति, भौगोलिक और नाक्षत्रिक परिवेश, वातावरण और पर्यावरण, सबकुछ आ जाता है। इस शब्द का प्रयोग बौद्ध साहित्य में हुआ है। 'भारत', 'जंबूद्वीप', 'पृथ्वी', 'महापृथ्वी'—ये चारों शब्द एक ही भाव 'देश' के विस्तार की चार कोटियाँ हैं और 'पुरुष' इन चारों कोटियों से अंशभेद के साथ जुड़ा है। 'आत्मा' के रूप में वह 'महापृथ्वी' को भी अतिक्रांत कर 'विश्व' तथा 'ब्रह्म' से जुड़ा है। मनुष्य 'पुरुष' के रूप में महापृथ्वी में निवास करता है तथा आत्मा के रूप में वह 'ब्रह्म' है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिसे हम देश कहते हैं, भारत की 'धरती' कहते हैं, जिसपर हम बसे हैं और जो हमारी मातृभूमि है, उसे हम विश्व प्रकृति या परमा प्रकृति का एक स्वरूप मानने के आदी हैं। इसीलिए इसमें मातृभाव की प्रतिष्ठा है। यह धरती माँ है, यहाँ की वनस्पतियाँ माँ हैं। यहाँ की नदियाँ माँ हैं, यहाँ का वृक्ष देवता है। पर्वत देवता हैं। यहाँ का दिवस पिता है, रात्रि माँ है। सूर्य, चंद्र और ऋतुओं से हमारा वात्सल्य संबंध है और फूलों-पौधों और प्राणियों से भ्रातृत्व का संबंध है। हमारी संस्कृति नें इस मानसिकता का उत्तराधिकार हमें दिया है और इस उत्तराधिकार को समझकर ही हमारे 'भारत बोध' और 'भारत माता' के विचार का सही आकलन हो सकता है। बाहरी दृष्टि से यह संभव नहीं। भारतीय मन सबकुछ को, अर्थात् अपने को तथा अपने घर-द्वार, खेत-खलिहान, हल-बैल, यंत्र-औजार, नदी-आकाश—सबको एक दिव्यता से संपृक्त मानता है और सबके प्रति श्रद्धाभाव रखता है। उसकी इस मानसिकता के संदर्भ में 'भारत माता' और 'देशमातृका' के विचार को परखना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चाहिए, न कि आधुनिक यूरोप के इतिहास के माध्यम से। गंगा नदी को 'गंगा मैया' कहना हमने हिटलर और मुसोलिनी से नहीं सीखा है।

गलत संज्ञा या गलत उपमा देकर अथवा अधूरी, एकांगी व्याख्या देकर प्रतिपक्ष का चरित्र-हनन करना आधुनिक बुद्धिजीवी की चिंतन-पद्धति का खास लक्षण बन गया है और इस शैली का शिकार धर्म, संस्कृति तथा देशभक्ति जैसे प्रमूल्य हैं जो मनुष्य की आत्मा को ऊँचा उठाने के साधन रहे हैं और इनकी सार्थकता अभ्रांत सिद्ध हो चुकी है। देशभक्ति को कभी नाजीवाद तो कभी पुनरुत्थानवाद और संप्रदायवाद, तो कभी कैशोर्य वृत्ति या बचकानापन कहकर तरह-तरह से इसका अवमूल्यन करने की चेष्टा होती रहती है। १९९१ में जब सोवियत रूस टूट रहा था तो राष्ट्रीयता-बोध का अवमूल्यन करने के लिए मास्को से प्रकाशित 'न्यू टाइम्स' (२८ दिसंबर, १९९१) में सौ साल पुराना एक लेख फिर छापा गया। लेखक हैं दिमित्री म्यूरेतोव; जिनके अनुसार, राष्ट्र प्रेम एक परिवर्द्धित और बृहत्तर किस्म की 'कामवृत्ति' (Eros) से ज्यादा कुछ नहीं। यह एक कुटिल भाषा है जो देशप्रेम यानी सामूहिक मातृप्रेम और वात्सल्य-बोध का अवमूल्यन सामूहिक 'कामवासना' कहकर करती है। यह वैसे ही गलत है जैसे दांपत्य प्रेम को 'पारस्परिक व्यभिचार' कहना। 'एरॉस' (Eros) ग्रीक भाषा का शब्द है, अर्थ होता है 'दैहिक प्रेमोन्माद'—यानी कामवासना। ग्रीक भाषा में 'प्रेम' के लिए दो और शब्द हैं—फिलो (Philos) अर्थात् भावात्मक या दार्शनिक प्रेम, जो कवियों में होता है तथा 'अगेप' (Agape) वैश्विक प्रेम, जो बुद्ध, ईसा मसीह जैसे पैगंबरों में होता है, जिसमें अपने प्रेम को सर्वभूत सचराचर में प्रीतिभोज की तरह बाँट देने का भाव है। ईसाई धार्मिक प्रीतिभोज को इसी अर्थ में 'अगेप' कहते हैं। यह ईश्वरीय प्रेम है। देशप्रेम भी 'अगेप' की समाकृति है। इसे 'दैहिक कामोन्माद' का सामूहिक रूप कहना इसका चरित्र-हनन है; परंतु हर्बर्ट मारक्यूस, गासे द ओत्रे आदि नव्य वामपंथी विचारकों ने मार्क्सवाद को अधिक सशक्त बनाने के प्रयास में राष्ट्रवाद को सामूहिक कामोन्माद और सामूहिक दमित वासना के रूप में देखा है और उनके भारतीय शिष्य अपने देश की अभ्यस्त मानसिकता और वाङ्मयी परंपरा से विच्छिन्न होने के कारण 'भारत बोध' और 'भारत माता' की अवधारणाओं पर उसी ढंग से सोचते हैं। देश का वह नवशिक्षित वर्ग, जो इस देश को मात्र 'भोग्य' मानता रहा है, उनकी इस चिंता-पद्धति से अपने निहित स्वार्थों को युक्तिसंगत करता है। वे तो धरती, प्रकृति और विश्व को ही अपनी 'रिंसा' का लक्ष्य बनाकर चल रहे हैं। 'येन-केन-प्रकारेण' धन और सत्ता का अर्जन ही उनका जीवन-दर्शन है। जवाहरलाल नेहरू के अंतरराष्ट्रीय-विमुग्ध

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मन को अपना रक्षा-कवच बनाकर यह वर्ग मुख्यधारा को 'कुजात' घोषित करने का बुद्धिवादी फैशन भी इसी व्यूह रचना का अंग है; क्योंकि मुख्यधारा अब भी अपने चिंतन में मूल संश्लिष्ट चल रही है और अब भी जीवंत है। परंतु ये बुद्धिजीवी अपने कमठ-खोल के क्षुद्र जगत् में इसे अनुपस्थित पाकर समय-समय पर घोषित करते रहते हैं कि यह तो 'अतीत' का अंग है, यह तो 'मुरदा' है, यह 'म्यूजियम पीस' है, इसकी जगह अब अलमारी में है इत्यादि-इत्यादि। महाकवि क्षेमेंद्र ने 'वशीकरण योग' का एक नुस्खा दिया है—'पाँच तोला धृष्टता, दो तोला दंभ, दो तोला झूठ, इन तीनों को एक में मिलाकर एक तोला धूर्तता के रस में भावना दें।' बस, हिंदुस्तान क्या चीज है, 'पृथिवीं वश्यामेष योग करोति'। आधुनिक हिंदुस्तान के बौद्धिक परिवेश में यह वशीकरण योग अद्‌भुत रूप से सफल सिद्ध हो रहा है।

भारत बोध यानी भारत चेतना को दुर्बल करने का परिणाम आज सामने है। अंग्रेजी के उत्तराधिकार सूत्र से प्राप्त इस सुरक्षित कमठ-खोल के जीव ही आज कलम और जबान का काला बाजार खोलकर बैठे हैं। दूसरी ओर, देश जहन्नुम की ओर 'प्रगति' करता जा रहा है। आज अखंडता-एकता और धर्मनिरपेक्षता की बात सभी कर रहे हैं और सभी-के-सभी जघन्यतम जातिवाद-संप्रदायवाद को महत् प्राप्ति की खुलेआम सीढ़ी बनाकर ऊँचे उठ रहे हैं। राजनीति का अपराधीकरण तो पुरानी बात हो गई है। अपराध का राजनीतिकरण अब सफलता का सबसे सीधा राजमार्ग बन गया है। फ़लतः देश की 'अस्मिता' तो बाद की बात है, देश का 'अस्तित्व' ही खतरे में पड़ता जा रहा है। राजनीति की ऐसी संस्कृति के भीतर देशात्मक बोध और भारत चेतना की बात नक्कारखाने में तूती की आवाज ही नहीं बल्कि प्रत्येक राजनीतिज्ञ के सीधे प्रहार का लक्ष्य बन चुकी है। ऐसे में देश के बाहरी और भीतरी शत्रुओं की गंजना-कुत्सा को बरदाश्त करते हुए भी हमें वही करना है जिसका संकेत रवींद्रनाथ ने इन निम्नलिखित पंक्तियों में दिया है। इसके सिवा और कोई उपाय नहीं—

'तोर आपन जन छाँड़बे तोरे
ताई बले भावना करे चलबे ना।
आसबे पथे, आंधार नेमे
ताई बेले की रइबी थेमे
तूई बारे-बारे ज्वालाबे बाती
हय तो तोर बाती ज्वलबे ना।
ताई बले की भावना करे चलबे ना।'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(तुझे तेरे अपने ही आदमी छोड़ देंगे, यह चिंता करने से तो नहीं चलेगा। तेरे रास्ते में अँधेरा उतर जाएगा। क्या यही सोचकर तू थम जाएगा। तू बार-बार बत्ती जलाएगा। हो सकता है कि तेरी बत्ती जल न पाए। तो भी यही चिंता करने से तो नहीं चलेगा) ...कविगुरु की सिद्धभाषा से निकली ये पंक्तियाँ आज बड़ी मार्मिक लगती हैं। प्रिय पाठक से इस सिलसिले में मेरा विनम्र निवेदन है कि यह बत्ती पहले भी बार-बार बुझी है और फिर तत्काल जली है। बत्ती बुझ जाने पर भी अंधकार में तुम्हारी प्रार्थना के शब्द नहीं थमेंगे। वे प्रार्थना के शब्द ही तुम्हारी रक्षा करेंगे। उन प्रार्थना के शब्दों को तुम पहचानो। वे हैं विगत चार हजार वर्षों से निरंतर तुम्हारे साथ चलनेवाले शब्द। तुम्हारी पवित्र भाषा के जन्म-सहोदर शब्द। सब भले ही तुम्हें धोखा दे दें, पर वे शब्द तुम्हें धोखा नहीं देंगे। तुम परम विश्वास के साथ उन्हें पकड़े रहो।

□

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लोकोत्तर बुद्ध : एक सूर्य-प्रतीक

'''कला-साहित्य और लोक-जीवन में ब्राह्मण और बौद्ध परंपराएँ एक ही सम्मिलित उत्तराधिकार से जनमीं, विकसित हुईं और परस्पर समायोजित होती रही हैं। यदि वे सर्वथा एक-दूसरे की वादी-प्रतिवादी ही होतीं तो यह सामंजस्य और समायोजन संभव ही नहीं था।'''सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो परंपरा एक ही थी, वह थी 'भारतीय सनातन परंपरा' और संस्कृति की 'मुख्य धारा', और 'वामधारा', दोनों ही उसी परंपरा से उद्‌भूत और विकसित हैं। आज की राजनीति, जो तोड़ने में अपना स्वार्थ-साधन देखती है, भले ही इसे 'दो' या दो से अधिक दिखाए; परंतु संस्कृति, साहित्य और समाज के अध्येता को राजनीति के सतही गणित से कुछ लेना-देना नहीं है।'''

यह 'श्वेत वाराह' कल्प है। इस कल्प के बुद्ध हैं सिद्धार्थ गौतम, जो कपिलवस्तु नगर में शाक्य राजपुत्र के रूप में जनमे थे। पिता थे शुद्धोदन और माता थीं माया देवी। माया देवी के गर्भ में स्व-प्राच्छन्न अवस्था में श्वेतहारी के रूप में इन्होंने प्रवेश किया था। लुंबिनी के महामंगल शाल वृक्ष के नीचे इन्होंने जन्म लिया था। देवी ने शालभंजिका मुद्रा में एक शाल-शाखा को पकड़े हुए खड़े-खड़े इनका प्रसव किया था, अन्य शिशुओं के विपरीत ये गर्भगुहा से इस तरह भूमिष्ठ हुए—पहले पैर, बाद में सिर, गोया सोपान से उतर रहे हों और इसी क्षण दशों दिशाओं का अवलोकन करने के बाद उत्तर दिशा में सात पग चलकर वे स्थिर हो गए। यौवन के आने पर अपने नवजात शिशु राहुल और पत्नी राहुल-माता (पाली साहित्य में 'यशोधरा', 'गोपा' शब्द अनुपस्थित हैं। ये शब्द संस्कृत और बौद्ध साहित्य में आते हैं। वहाँ 'राहुल-माता' शब्द ही चलता है। बुद्ध उस भू-खंड से जुड़े हैं, जिसकी भाषा की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वर्तमान उत्तराधिकारी भोजपुरी है। भोजपुर संस्कृति में नारी का परिचय 'पुत्र' से जोड़कर देने की प्रथा आज भी है। पति भी 'अमुक की माँ' कहकर ही बुलाता है। विवाहिता को नाम से पुकारना तो असम्मान माना जाता है। बुद्ध की पाली इसी अर्ध मागधी प्राकृत का ही एक रूप रही होगी, जिसका एक विकास भोजपुरी है। बुद्धकालीन उस प्राकृत (पाली) की सामाजिक-सांस्कृतिक उत्तराधिकारिणी आज की भोजपुरी-मगही ही है।) को सोते हुए छोड़कर कंथक घोड़े और छंदक सेवक के साथ अर्धरात्रि में सांसारिक जीवन से महाभिनिष्क्रमण किया था। सुजाता द्वारा प्रदत्त खीर भोग कराकर गया में बोधिवृक्ष के नीचे उन्होंने वज्रासन स्थापित किया और वहीं उन्हें 'बोधि' की प्राप्ति हुई तथा वे 'बुद्ध' बने। इसके पूर्व वे मात्र बोधिसत्त्व थे। सारनाथ में मृगदाव में इन्होंने प्रथम धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था। इनकी कथा को लोग भलीभाँति जानते थे। ये हैं ऐतिहासिक बुद्ध। यह उनका लोकरूप है। परंतु बौद्ध शास्त्रों में इनके लोकोत्तर रूप की ही प्रतिष्ठा है और ये प्रथम बुद्ध नहीं, पच्चीसवें बुद्ध हैं। इनके पूर्व दीपंकर से लेकर महाकाश्यप तक चौबीस बुद्ध हो चुके थे। बुद्धत्व एक आत्मा का दिव्यधर्म है, जो कल्पांतर और जन्मांतर की साधना द्वारा जन्म-प्रतिजन्म 'बोधिसत्त्व' रूपों में विकसित होता हुआ अपने चरम रूप 'बुद्धत्व' को प्राप्त होता है। ये सारे बुद्ध एक ही नहीं, भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। अतः ये एक-दूसरे के अवतार नहीं। अवतार की धारणा बोधिसत्त्व रूपों में निहित है। सिद्धार्थ गौतम अपने उच्च ऐतिहासिक जन्म के पूर्व अनेक बार 'बोधिसत्त्व' रूप में अवतरित हुए थे और उन जन्मों की कथा को ही 'जातक' कथा कहा है।

शाक्य क्षत्रिय इक्ष्वाकुवंशीय हैं और इनका आदिपुरुष सूर्य है। बुद्ध का समकालीन श्रावस्ती का राजा कभी 'इक्ष्वाकु', कभी 'मातंग' वंशीय कहा गया है। बुद्ध के विरोधी विद्रूप में उन्हें भी 'इभ्य' (मातंग) वंशीय कहते हैं। परंतु 'थेरगाथा' या अन्य ग्रंथों में शाक्यों के लिए 'भगीरथ' (बहुवचन में 'कुल' के अर्थ में) शब्द कई बार आया है। अयोध्या का राजवंश जिसमें दिलीप, रघु, अज, दशरथ और रामचंद्र हुए हैं, इक्ष्वाकु घराना ही है और भगीरथ उनके पूर्वपुरुष हैं। मुझे लगता है कि शाक्यगण सूर्यवंशी इक्ष्वाकुओं की ही एक भिन्न गोष्ठी हैं। शाक्यों की उत्पत्ति की कथा भी दिलचस्प है, जिसमें मूल पुरुष गणों में भाई-बहनों का परस्पर विवाह दिखाया गया है। परंतु आदिकालीन आर्य संस्कृति में 'भाई-बहन' का विवाह बड़ी कड़ाई से निषिद्ध था। इसका प्रमाण है ऋग्वेद का प्रसिद्ध यम-यमी संवाद। यमी अपने भाई यम पर ही प्रणयासक्त हो जाती है और यम कठोरतापूर्वक इसे 'अनृत'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

घोषित करता हुआ उसे धिक्कारता है। शाक्यों के पूर्वज शायद इक्ष्वाकुओं की एक भिन्न शाखा से निःसृत हैं। इनका संबंध आर्य अभियान के प्रथम चरणवाले आर्यों से है और परिस्थितिवश उन्हें यह निषिद्ध विवाह संबंध स्थापित करना पड़ा था। बौद्धों में प्रचलित रामकथा (दशरथ जातक) में जो राम-सीता के भाई-बहन होने के बावजूद विवाह दिखाया गया है, वह शायद बुद्ध के पूर्वपुरुषों के इतिहास की अनुस्मृति मात्र है।

'महावस्तु' में कोलीय क्षत्रियों की उत्पत्ति के प्रसंग में (कोलीय शाक्यों के प्रतिवेशी थे और राहुल-माता 'यशोधरा' कोलीय राजकन्या थी) इक्ष्वाकुवंश के इस आधार का उल्लेख है। इस अंश का अनुवाद डॉ. सुकुमार सेन ने 'रामकथार प्राक् इतिहास' में इस प्रकार किया है—

'इक्ष्वाकुवंशीय राजा सुजात के पाँच पुत्र थे। उनके नाम यथाक्रम से ओपुर, निपुर, करकंडक, उल्कामुख और हस्तिशीर्ष थे। पाँच कुमारी कन्याएँ भी थीं— शुक्ला, विमला, विजिता, जला और जली। राजा की उपपत्नी के गर्भ से एक पुत्र हुआ, नाम था जेंता। उसकी माँ का नाम था जेंती। राजा सुजात ने उसे उपभोग के लिए रखा था। उसके प्रति राजा का प्रणय उत्पन्न हुआ। उस प्रणय के वशीभूत होकर राजा ने उसे प्रचुर पुरस्कार (वर) देना चाहा, 'जेंती, वर देना चाहता हूँ। जो वर चाहती हो, दूँगा।' उसने कहा—'महाराज, माँ-बाप से पूछकर आपसे वर माँगूँगी।'

उसने माँ-बाप को बताया—'राजा हमें वर देना चाहते हैं। मैं क्या वर माँगूँ, तुम्हारी क्या राय है?' वहाँ जिसकी जो समझ थी उसके अनुसार बताया—'ग्राम-दान माँग लो।' वहाँ एक परिव्राजिका थी—विचक्षण और बुद्धिमती। उसने कहा— 'जेंती, तुम (भी) उपपत्नी की ही संतान हो (क्षत्रिय कन्या न होने के कारण)। तुम्हारे पुत्र का पिता की किसी वस्तु पर अधिकार नहीं। राज्य की तो बात ही नहीं। अन्य पाँचों पुत्र क्षत्रिय कन्या की संतान हैं और पैतृक राज्य के उत्तराधिकारी हैं। तुम्हें राजा वर देना चाहता है। राजा सुजात कभी भी वचन देकर लौटाते नहीं, जो कहते हैं, (उसे) करते हैं। तुम राजा से वर माँग लो कि अपने उन पाँचों पुत्रों को निर्वासन दें और तुम्हारे पुत्र जेंत कुमार को यौवराज्य पद दें। इससे राजा की मृत्यु होने पर साकेत महानगर का राजा वही (तुम्हारा पुत्र) होगा।'

ऐसी वर-प्रार्थना सुनकर राजा सुजात उन पुत्रों के स्नेह से कातर हो उठे; किंतु वर देने को कहकर अब मुकर तो सकते थे नहीं। राजा ने जेंती महिषी को कहा— 'यही हो। यही वर दिया जाए।' इस वरदान की बात नगर और ग्राम के परिजनों ने सुनी कि राजपुत्रगण वनवास जाएँगे और उपपत्नी जेंती के पुत्र जेंत कुमार को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

युवराज बनाया जाएगा। तब राजपुत्र के गुणों का स्मरण करते हुए उत्कंठित जनसमूह ने कहा—'राजपुत्रों की जो गति होगी, वही हमारी भी होगी।' राजा ने सुना कि विराट् जन समष्टि साकेत नगर और ग्राम छोड़कर राजपुत्रों के साथ निर्वासन ग्रहण करेगी। राजा ने घोषणा कर दी कि राजपुत्रों के साथ जो वनवास जाएगा, उसके लिए जो कुछ प्रयोजनीय वस्तु या द्रव होगा, वह राजकोष से दिया जाएगा। जिसकी जो जरूरत हो, हाथी या घोड़ा, रथ के जोड़े वाहन या किसी तरह की गाड़ी, पालकी, बैल, भैंस, बकरी, भेड़ अथवा अर्थ या खाद्य या अलंकार या दास-दासी, जो कुछ प्रयोजन हो, वह सब राजकोष के व्यय से दिया जाएगा।

इस तरह वे राजपुत्र हजार-हजार ग्रामवासी, सैन्य सामंत, यान-वाहन आदि के साथ साकेत नगर से उत्तर की ओर चले। रास्ते में 'काशि कोशल' के राजा ने उनका स्वागत किया। सभी राजपुत्र कृतपुण्य थे, पुण्यवान और धार्मिक थे, ऐश्वर्यशाली, शांत और सुखलोकित थे। काशि कोशल की जनता ने उन्हें प्रारंभ से ही पसंद किया। 'अहा, राजपुत्रगण कितने धार्मिक और पुण्यवान हैं!' ऐसी उक्तियाँ सुनकर काशि कोशल के राजा के मन में हिंसा जगी। (वे सोचने लगे) जब ये लोग राजपुत्रों के गुणों पर मुग्ध हैं तो यह भी संभावना है कि ये बाद में हमारी हत्या करके इन राजपुत्रों का ही अभिषेक कर दें। इसलिए काशि कोशल के राजा ने भी उन्हें अपने देश से निर्वासित कर दिया।*

हिमालय की तलहटी में कपिल नामक ऋषि रहते थे। उनका वह आश्रम बहुत विस्तीर्ण और रमणीय था। वहाँ पर 'मनसा' (सेंहुड़) का अरण्य था। उसी सेंहुड़ वन में जाकर राजपुत्रों ने वास स्थानं बनाया। उस स्थान होकर बनजारे और वणिक उसी वनखंडी से होकर काशि कोशल और साकेत आते थे। लोग पूछते, कहाँ से आ रहे हो, तो वे बोलते, अमुक सेंहुड़ वनखंडी से। काशि कोशल और साकेत के वणिक भी उसी रास्ते जाते और पूछने पर यही बताते, सेंहुड़ वनखंडी से होकर जाएँगे।

इसके बाद उन राजपुत्रों ने 'किसी बात से हमारे भीतर जातिदोष घटित न हो' (जाति रक्त शुद्ध रहे), इसलिए अपनी बहनों के साथ ही विवाह कर लिया (जो

---

* यह 'काशि कोशल' संभवतः कोशल देश का कोई उत्तरी अंश था; क्योंकि यहाँ साकेत के उत्तर में इसे स्थापित माना गया है। यह काशि राज्य नहीं, 'काशि' (काश्य) जाति का कोई भिन्न जनपद था। हिमालय में 'काश्य' जाति कभी रहती थी। 'काश्यमेरु' का ही अपभ्रंश 'कश्मीर' शब्द हो सकता है। यह जाति कश्मीर से नेपाल तक फैली हो सकती है। 'काश्य' का ही रूपांतर 'कश' 'खस' हो सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संख्या में पाँच थीं और भाइयों के साथ ही वनवास पर गई थीं)। राजा सुजात अपने मंत्रियों से पूछते हैं, 'हे मंत्रिगण, राजपुत्र कहाँ पर हैं?' मंत्रियों ने बताया— 'महाराज, हिमालय के तट पर विशाल सेंहुड़ वनखंड में निवास कर रहे हैं।' राजा ने पूछा—'मंत्रियो, राजपुत्रों ने कहाँ से पत्नियाँ जुटाई होंगी?' उन्होंने बताया, 'महाराज, जाति नष्ट होने के भय से उन्होंने अपनी भगिनियों से ही विवाह कर लिया है।'

इसके बाद राजा ने पुरोहितों और अन्य ब्राह्मण-पंडितों से जिज्ञासा की, 'कुमारों ने जो यह (कर्म) किया है, क्या किया जा सकता है?' पुरोहितों और ब्राह्मण-पंडितों ने उत्तर दिया, 'किया जा सकता है, महाराज। इसमें कुमारों का कोई दोष नहीं।' यह सुनकर राजा ने महत् वाणी का उच्चारण किया—'कुमारगण, तुम लोग 'शक्य' (समर्थ) हो,' तभी से उन राजपुत्रों का समष्टि (गोत्र) नाम यही पदवी हुई—'शक्य' अर्थात् 'शाक्य' या 'साकिय'।

(कपिल ऋषि की अनुमति से राजपुत्रों ने वहाँ राजधानी बनाई थी। अतः उसे 'कपिलवस्तु' की संज्ञा मिली। 'वस्तु' अर्थात् 'वास्तु', जिसका आधुनिक हिंदी में अर्थ होता है 'डीह या मूल स्थान')।

उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि कपिलवस्तु के शाक्य क्षत्रिय सूर्यवंशीय इक्ष्वाकुओं की ही एक शाखा है जो 'रघुओं' (रघुकुल) से भिन्न एक शाखा रही होगी। 'रघु' शब्द भी वेदों में जातिवाचक बहुवचन के रूप में आता है। बुद्ध-विरोधियों ने कभी-कभी निंदा के रूप में उन्हें 'इभ्य (मातंग) हाथीवंशीय कहा है। श्रावस्ती के प्रसेनजित को भी 'मातंग' कहा गया है। अतः शाक्य क्षत्रिय आदिकाल में ही अवध के 'शालीन' इक्ष्वाकुओं से भिन्न प्रकार के, उसी प्रजाति की एक शाखा हो सकते हैं, जिन्होंने अपने यहाँ प्राचीन आर्यगण (Republic) पद्धति जीवित रखी। ठीक वैसे ही जैसे महाभारतकालीन चंद्रवंशीय यादवगण थे, जिनका नाममात्र का राजा था उग्रसेन, पर प्रशासन गणतांत्रिक था। परंतु गौतम बुद्ध वैदिक आदित्य उपासना के सौरबिंब प्रतिष्ठित किए गए हैं, जिसकी चर्चा हम लोग आगे करेंगे। लोकोत्तर बुद्ध के भावबिंब का विकास शत-प्रतिशत वैदिक बिंबों और अभिप्रायों के आधार पर हुआ है।

वैदिक आर्य देवशास्त्र के माध्यम से ही लोकोत्तर बुद्ध को पहचाना जा सकता है; यद्यपि उसके रूप-विन्यास में वैदिकेतर तत्त्व भी आते गए हैं। दूसरी बात यह कि बौद्ध रामकथा में 'राम बुद्ध के ही पूर्वजन्म' बोधिसत्त्व के अवतार हैं। 'दशरत्थ जातक' में राम और सीता तथा लक्ष्मण के वनवास की कथा है और भरतकुमार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(शत्रुघ्न का कोई उल्लेख नहीं) और विमाता की भूमिका भी वही है जो वाल्मीकि रामायण में है। परंतु उसमें एक विचित्र बात यह है कि राम-सीता सहोदर भाई-बहन हैं और पति-पत्नी भी। संभवतः ये बात शाक्यों की मूल कथा की छाया पर इसमें डाल दी गई है। शाक्यों के मूल पुरुषों ने बाध्यतः ही ऐसा किया था। परंतु 'गण' के लोग 'गण' के बाहर विवाह नहीं करते थे। यदि बाहर की कन्या लाना होता था तो वह भी किसी 'गण' की ही होती थी। जैसेकि राहुल-माता शाक्यों के प्रतिवंशी 'कोलीय' गण की राजकन्या थी। गणों में भी 'राजा' होता था, परंतु सर्वाधिकारसंपन्न नहीं। यह बहुत कुछ यूरोप के अभिजात तंत्र (Feudalism) जैसा था। प्रशासनिक निर्णय राजा नहीं, गण परिषद् ही करती थी। निर्णय मतदान द्वारा होता था। गणों को 'व्रात्य' इसलिए कहा जाता था कि इनके धर्म में व्रत का प्राधान्य था, 'यज्ञ' का नहीं। अर्थात् इनका संबंध व्रताचार, पूजा और ध्यान पर आश्रित धर्म की 'वाम' परंपरा से था; जबकि धर्म की 'दक्षिण' परंपरा यज्ञकर्म और होम पर आश्रित थी। जिन अग्रगामी एवं घुमंतू आर्य कबीलों ने अपनी पुरानी धर्म व्यवस्था को छोड़कर नई 'शालीन' यज्ञाश्रित धर्म व्यवस्था को स्वीकार किया था, वे 'व्रात्य' कहे जाते थे और कालांतर में ब्राह्मण साहित्य में इस शब्द का हेय अर्थ विकसित हो गया; क्योंकि कट्टर ब्राह्मण दृष्टि से धर्म का यह वाम रूप हेय और अपरिष्कृत था। ऐतिहासिक विकास की शक्तियों ने आगे चलकर धर्म का जो रूप विकसित किया, उसमें व्रताचार, पूजा और ध्यानाश्रित धर्म की जीत हुई। यज्ञ का ही अर्थ बदल गया—जप, यज्ञ और भाव-यज्ञ में। ऐसा लगता है कि गणों में ब्राह्मण और वणिक होते थे, परंतु प्राधान्य क्षत्रियों का ही था। कहा जाता है कि जंबूद्वीप में अवतरण के पूर्व तुषित लोक में स्थित बोधिसत्त्व ने चिंता की थी कि बुद्ध का अवतार दास या वैश्य कुल में नहीं होता है। श्रेष्ठ कुल ब्राह्मण या क्षत्रिय में ही होता है और इस समय क्षत्रिय वर्ण ही श्रेष्ठतम वर्ण है।

शाक्य राजपुत्र, जो गौतम बुद्ध के नाम से विख्यात हैं, बुद्धत्व-प्राप्ति से पूर्व कल्प-कल्पांतर के अनेक जन्मों में बोधिसत्त्व रूप धारण कर जन्म ले चुके थे। जिस प्रथम जन्म में 'चार असंख्येय एक लाख वर्ष' पूर्व उन्होंने अपने भीतर 'बुद्ध अंकुर' अर्थात् बुद्ध होने का संकल्प-बीज धारण किया था, उसमें प्रथम बुद्ध 'दीपंकर' का मंगलानुशासन पृथ्वी पर चल रहा था। उस जन्म का उनका नाम था सुमेघ पंडित और वर्ण था ब्राह्मण। सुमेघ पंडित ने पच्चीसवें बुद्ध के रूप में शाक्य कुल में जन्म लिया था और इससे पूर्व अनेक जन्मों में बोधिसत्त्व रूप में धरती पर लीला की थी, जिसका वर्णन जातक कथामाला से प्राप्त होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सुमेघ पंडित अमरावती नगर के संपन्न ब्राह्मण थे। वैराग्य धारण करके हिमालय के 'धम्मक' नामक शिखर पर कुटी बनाकर तपस्या करने लगे। जब वे अपनी समाधि में लीन थे तभी पृथ्वी पर प्रथम बुद्ध दीपंकर का अवतरण हो गया था। अतः वे इस तथ्य से अपरिचित थे। तभी एक दिन आकाश में कोलाहल हुआ कि दीपंकर बुद्ध इसी पथ से 'रम्मक' नगर के सुदर्शना विहार में जाएँगे। सुमेघ ने आसन से उठकर देखा कि लोग बुद्ध-मार्ग पर कदली घट, तोरण, ध्वज, पताकाएँ आरोपित कर रहे हैं और सुगंधित द्रव्यों का छिड़काव कर रहे हैं। सुमेघ ने संकल्प किया कि बुद्ध की अभ्यर्थना में वे अपनी देह को ही पथ बना देंगे और वे पथ पर लेट गए। उन्होंने लेटे-लेटे देखा कि भगवान् दीपंकर बत्तीस लक्षणों से युक्त थे और छह अभिज्ञाओं को धारण करके चल रहे थे। उनके मस्तक के चारों ओर दो हाथ व्यास का प्रभामंडल व्याप्त था जिससे नील, पीत, श्वेत, मंजिष्ठ, अरुण और प्रभास्वर—इन छह वर्णों की किरणें फूट रही थीं। वे साक्षात् द्वितीय सूर्य की तरह प्रकाशमान होते चल रहे थे।

भगवान् दीपंकर ने पग रखते ही अभिज्ञा बल से जान लिया कि यह किस तपस्वी की पीठ है। उन्होंने त्रैलोक्य को साक्षी बनाकर घोषणा की, 'महाब्रह्मा सुनें, शक्र सुनें, त्रयस्त्रिंश देवगण सुनें, यहाँ महापृथ्वी साक्षी रहे, आज मैं यहाँ पर 'बुद्ध अंकुर' आरोपित कर रहा हूँ। यह सुमेघ तपस्वी ही वह 'बुद्ध-बीज' हैं। ये 'चार असंख्य एक लाख कल्प' बीतने पर जंबूद्वीप में, अनेक-अनेक बोधिसत्त्व रूपों में जन्म लेने के बाद यह 'बेसंतर' नामक बोधिसत्त्व होगा, तत्पश्चात् यह 'तुषित' स्वर्ग लोक में निवास करेगा, फिर समय आने पर जंबूद्वीप में ही कपिलवस्तु नगर में महापृथ्वी के मंगल के लिए सिद्धार्थ गौतम के रूप में अवतरित होगा और आगे चलकर 'बुद्धत्व' प्राप्त करेगा। इसके माता-पिता होंगे माया देवी और शुद्धोदन, अग्रश्रावक होंगे सारिपुत्र और मौद्गल्यायन, उत्पलवर्णा और क्षेमा अग्रश्राविका होंगी, आनंद प्रधान शिष्य होंगे। इसका वज्रासन होगा गया तीर्थ में और इसका बोधिसत्त्व वृक्ष होगा पीपल का पेड़।'

सुमेघ पंडित ने भी संकल्प किया, 'इस पुण्य क्षण को मैं पुण्य-बीज बनाऊँगा, जिससे बुद्ध अंकुर फूटेगा। मैं एक दिन बुद्ध बनकर, सारे लोक को धर्म नौका पर सवार कर भवसागर पार करा दूँगा। बुद्ध पद सर्वज्ञता का पद है। इसके चाहनेवाले में आठ गुण होने चाहिए—(१) मनुष्य योनि, (२) पुरुष लिंग, (३) हेतु (पूर्व पुण्य), (४) बुद्ध-दर्शन, (५) प्रव्रज्या, (६) योग्यता, (७) छंद (इच्छाशक्ति), (८) अमनीहार (संकल्प)। मैं इन आठों को अर्जित करूँगा।' ऐसा सोचते हुए

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सुमेघ पंडित उठे बैठे और 'पल्लथ' (पालथी) मारकर उन्होंने गौतम के पूर्व होनेवाले चौबीस बुद्धों का चिंतन और ध्यान अपनी समाधिलब्ध अभिज्ञा के बल पर किया। वे चौबीस बुद्ध हैं—(१) दीपंकर, (२) कौंडिल्य, (३) मंगल, (४) सुमन, (५) रेवत, (६) शोमित, (७) अनोमदर्शी, (८) पद्म, (९) नारद, (१०) पद्मोत्तर, (११) सुमेघ (इस सुमेघ पंडित से भिन्न), (१२) सुजात, (१३) प्रियदर्शी, (१४) अर्थदर्शी, (१५) धर्मदर्शी, (१६) सिद्धार्थ (गौतम से भिन्न), (१७) तिष्य, (१८) पुष्या, (१९) विपश्यी, (२०) शिखी, (२१) दिव्यम्, (२२) ककुसंघ, (२३) कोणागमन, (२४) काश्यप। इनके बाद पच्चीसवें बुद्ध सुमेघ पंडित ही 'गौतम' की संज्ञा धारण करके होंगे। ऐसा सोचने के बाद सुमेघ पंडित ने बुद्ध होने के लिए अनिवार्यत: धारणीय दस पारमिताओं का चिंतन किया है। वे हैं—दान, शील, नैष्कर्म्य, प्रज्ञा, मुदिता, वीर्य, शांति, सत्य अधिष्ठान में भी, करुणा और उपेक्षा। इन पारमिताओं को प्रत्येक बुद्ध को धारण करना पड़ता है। इन पारमिताओं पर विचार-मंथन करते समय सुमेघ से जो धर्म तेज व्यक्त हुआ, उससे दस हजार देवताओं सहित यह महापृथ्वी काँप उठी। महाब्रह्मा, शक्र चारों दिशाओं के चतुर्महाराजिक देवता* समेत त्रयस्त्रिंश देवताओं ने सुमेघ की परिक्रमा की। आकाश से पुष्पवृष्टि हुई। दुंदुभी बज उठी। देवताओं ने प्रार्थना की, 'महातपस्वी सुमेघ, जिस प्रकार दूसरे बुद्धों ने दश पारमिताओं की सिद्धि प्राप्त की थीं, तू भी वैसा ही कर। जिस प्रकार दूसरे बुद्धों ने धर्मचक्र प्रवर्तन करके दश हजार चक्रवाल (भुवनों) वाली महापृथ्वी को चंद्रमा की तरह प्रकाशित किया था, वैसा ही तू भी कर।'

देवताओं की वाणी को सुनकर सुमेघ पंडित ने पुन: समाधि धारण किया और उक्त चौबीस पूर्व बुद्धों के बारे में चिंतन करते हुए अपने बुद्ध संकल्प का 'अभिनीह्रार' किया, उसे ही पच्चीसवाँ बुद्ध गौतम (सिद्धार्थ) होना था। पूर्व के सारे बुद्ध एक-दूसरे के अवतार नहीं थे। वे 'आदिबुद्ध' से नि:सृत भिन्न-भिन्न व्यक्ति-कलाओं के रूप में अवतरित हुए थे। पच्चीसवाँ बुद्ध गौतम और भविष्य के छब्बीसवें बुद्ध नैतेय (जो सिंहल में जन्म लेंगे) भी उसी आदिबुद्ध से निकली स्वतंत्र कलाएँ हैं। प्रत्येक बुद्ध जन्म-प्रतिजन्म बुद्धत्व प्राप्त करने के पूर्व बोधिसत्त्व के रूप में 'बुद्ध-हेतु' (पुण्य-बल) अर्जित करता है। प्रत्येक बुद्ध के पीछे उसके असंख्य बोधिसत्त्व

---

* 'चतुर्महाराजिक देवता'—राजराज का महाराज का अर्थ होता है यक्षराज। चारों दिशाओं में चार यक्ष देवता स्थित हैं। वे हिंदू पुराणों के दिग्पाल देवताओं की तरह हैं। बौद्ध ग्रंथों में इनके नाम इस प्रकार हैं—पूर्व में धृतराष्ट्र (गंधर्व), दक्षिण में विरूढ़क (कूष्मांड), पश्चिम में विरूपाक्ष (नाग) और उत्तर में वैश्रवण (यक्ष)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जन्मों की परंपरा है। 'बोधिसत्त्व' का अर्थ है 'बुद्ध-बीज' या 'बुद्ध-तत्त्व'। बौद्ध धर्म 'एक' अविनाशी अक्षर और उसके असंख्य 'अंतर्यामी रूप' (आत्मा) के सिद्धांत का विश्वासी नहीं है। परंतु यह बात केवल दार्शनिक स्तर पर ही स्वीकृत है। आदिबुद्ध से अन्य बुद्धों का निस्सरण और एक बुद्ध के पीछे असंख्य बोधिसत्त्व जन्म, ये दो बातें बहुत कुछ उसी पैटर्न की ओर इशारा करती हैं जो वेदांत में 'एक' और 'बहु' अंतर्यामी रूपों द्वारा कही गई हैं। दोनों में दार्शनिक प्रभेद होते हुए भी चिंतन-पद्धति की समाकृति मौजूद है; क्योंकि श्रमण और ब्राह्मण, दोनों एक ही मूल परंपरा के दो विवर्तन मात्र हैं। जैसे-जैसे बौद्ध चिंतन का विकास होता गया, उसकी आकृति में मूल चिंतन-पद्धति के साँचे अपने आप उतरते गए। अंत में स्थिति ऐसी आ गई कि शैव-वैष्णव और महायान चिंतन की प्रकृति और पद्धति, दोनों में मात्र शाब्दिक भेद ही रह गया। पूर्वोक्त बोधिसत्त्व सुमेघ पंडित ने अनेक योनियों में बोधिसत्त्व-जन्म ग्रहण किया और फिर देवताओं के तुषित लोक में जाकर स्थित हो गए और बुद्ध के रूप में कपिलवस्तु में अवतरित होने के समय की प्रतीक्षा करने लगे।

यहाँ तक की कथा को बौद्ध साहित्य में 'अविदूरे निदान' कहा जाता है। इसके बाद आती है जंबूद्वीप में कपिलवस्तु नगर में सुमेघ पंडित की 'बुद्ध' के रूप में जन्म की कथा, और इस कथा में बोधिसत्त्व के नीचे बोधि-प्राप्ति तक की कथा को 'विदूरे निदान' कहते हैं। बोधिसत्त्व के बाद गौतम बुद्ध उस वृक्ष से हटकर अजपाल वट के नीचे बैठ गए और अजपाल वट के नीचे निवास, चार आर्य सत्यों पर मनन, फिर प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तन (सारनाथ) से लेकर शेष जीवन-लीला को 'संतिके निदान' कहते हैं। विनयपिटक के दिव्यावदान में, 'ललित विस्तर' में और बाद की जातक कथाओं में तथा अश्वघोष के 'बुद्धचरित' में इस लीला को अद्‌भुत विस्तार दिया गया है। तब यह 'चरित' नहीं बल्कि 'लीला' बन जाती है। 'ललित' शब्द का अर्थ ही होता है—'लीला-गीत' (गंधर्वा ललितं जगुः—सप्तशती चंडी)। ऐतिहासिक 'बुद्धचरित' में लोकोत्तर बुद्ध-लीला की स्थापना के पीछे एक लंबी वाङ्मय परंपरा है। इस प्रक्रिया का प्रारंभ तो हीनयान के लोकोत्तरवादियों और सर्वास्तिवादियों ने किया था। उनकी दृष्टि में बुद्ध का जन्म, जीवन और निर्वाण मानुषी नहीं, दिव्य थे। परंतु इस विचार को बहुत अधिक आगे बढ़ाने का श्रेय जाता है हीनयान के विरोधी महासंघिकों को और बुद्ध के पूर्वजन्म के बोधिसत्त्व रूपों की कल्पना को। तत्पश्चात् महायानी बौद्धों ने तो बोधिसत्त्व को 'बुद्ध' से भी श्रेष्ठतर घोषित कर दिया और ऐतिहासिक बुद्ध विलीन हो गए 'बुद्धत्व' की एक 'परम' धारणा में, जो 'बुद्ध' को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक परम दिव्य सत्ता के रूप में मानती है; अर्थात् प्रत्येक बुद्ध मूलतः बोधिसत्त्व है, जो अपना निर्वाण तब तक नहीं चाहता, जब तक कि सृष्टि का एक भी जीव दुःखी है। सृष्टि के उस क्षण में भी जब प्रत्येक प्राणी आनंदमग्न है, दुःखमुक्त है, पर एक चींटी ही दुःखी रह गई है तो बोधिसत्त्व अपना निर्वाण रोक देंगे। उनकी भूमिका ही है समस्त जीवों का उज्ज्वल उद्धार।

बौद्ध साहित्य और कला में 'बुद्धों' के वर्णन में तेज-तत्त्व या सूर्य-तत्त्व की स्थापना की गई है। वीतराग बुद्ध महा अंधकार का नाश करने के लिए सौर रश्मियों की तरह आदिबुद्ध से उत्पन्न होते हैं और आजीवन अग्नि-स्कंभ (अग्नि-स्तूप) की तरह जलकर सद्धर्म-पथ का निर्देश करते हैं। सूर्य और अग्नि-स्कंभ (आग की दहाड़ी या स्तूप) में दो बिंब उनकी जीवन कथाओं एवं प्रतीक चित्रों के वर्णन और अंकन में बार-बार दोहराए गए हैं। वस्तुतः इस प्रकार विकास प्राप्त बुद्ध-लीला परंपरागत आर्य 'थीम' 'देवासुरम्' का ही ऐतिहासिक बुद्ध के व्यक्तित्व पर आरोपण है और भारतीय मनीषा के संयुक्त उत्तराधिकार सूत्र से यह आती है। बुद्ध की आकृति (रूप), प्रकृति (स्वभाव), कर्म-स्थान (योग) और चारिका (क्रियाकलाप) में सावित्री तत्त्वों की स्थापना इसी दृष्टि से की गई है कि बुद्ध मानवीय कल्पना में तेज, प्रकाश, बोधि, अग्नि, तपस, जीवन, सोम, प्राण व सद् के महाप्रतीक बनें और मनुष्य की शुभ बुद्धि का दिव्यतम रूप इस महाप्रतीक के माध्यम से भारतवर्ष विश्व के सम्मुख रखता है। महामैत्री और महाकरुणा जैसे ठंडे और व्यथा-शामक गुणों में ही इस महाप्रतीक का पराक्रम और तेज व्यक्त होता है। यह पराक्रम की दिव्यतम परिभाषा है। वैसे तो इसकी परंपरा भारतीय महाकाव्यों में मौजूद है—शिवि, हरिश्चंद्र, दिलीप, राम और युधिष्ठिर जैसे गृहस्थ महानायकों में; परंतु महामैत्री और महाकरुणा की मनोभूमि ही निर्वैयक्तिक और वैश्विक होती है। गृहस्थ के जीवन-युद्ध में इस दिव्य पराक्रम के विस्तार की सीमाएँ मुक्त नहीं हैं। ये महामैत्री और महाकरुणा ईसाई धर्म में यीशु (Christ) के जीवन में भी व्यक्त हुई हैं; परंतु यहाँ पर इसका उत्स कर्मफलजनित 'महादुःख' का आर्यसत्य नहीं, बल्कि शाश्वत 'पापबोध' के अनिवार्य उत्तराधिकार का प्रतिफलन है। बौद्ध दृष्टि ऐसे किसी पापबोध से पीड़ित नहीं। इसमें मनुष्य की अपनी भूमिका, अपना पराक्रम अपेक्षित है।

यह दुःख मनुष्य की अपनी ही कामना शृंखला का स्वाभाविक परिणाम है, किसी पूर्वज के पाप का उत्तराधिकार नहीं। पूर्ण बोधिचित्र में पुण्यमयी कामनाएँ कर्मफल बनाती हैं और निर्वाण में बाधक हैं। महायानियों के एक संप्रदाय ने तो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वज्रासन पर बैठे बुद्ध के प्रति निर्वाण को भी मार द्वारा दिया गया अंतिम प्रलोभन माना है, जिसे बुद्ध ने अस्वीकार कर दिया था।

जातक कथाएँ हीनयान परंपरा की देन हैं। बुद्ध के लोकोत्तर रूप को ही वे हालाँकि प्रतिष्ठित करती हैं, फिर भी उनके ऐतिहासिक रूप को भी सामान्यतः स्वीकार करती चलती हैं। वस्तुतः ऐतिहासिक रूप से 'बुद्ध' प्रतीक को मुनि महायान के पथ पर उतारने पर ही मिली है। उन्होंने बुद्ध को संपूर्णतः 'दिव्य सत्ता' बना डाला। वे 'महाबोधिसत्त्व' हो गए। परंतु 'दिव्यावदान' तथा 'जातक कथाओं' में तथ्यात्मक जीवन की निर्ममता रह-रहकर झलक उठती है। उनकी बोधि-प्राप्त शांति मानवीय दृष्टि से असहनीय निर्मम शांति है। इतना विराग असह्य ही कहा जाएगा। उनकी आँखों के सामने उनके पुत्र ने कच्चे किशोरवय में ही साधना की कठिनता को न सहकर मृत्यु को प्राप्त किया। आजीवन उन्हें तीर्थंकरों, प्रति तीर्थंकरों का ही नहीं, अपने ही चचेरे भाई देवदत्त का विरोध सहन करना पड़ा, जिसने उनका चरित्र-हनन करने में कुछ भी उठा नहीं रखा। उनकी आँखों के सामने ही शाक्यगण का अस्तित्व इतिहास से समाप्त हो गया और प्रसेनजित के पुत्र विड़ूदभ ने उनका आबालवृद्ध कत्लेआम करा डाला। बुद्ध यह सब सुनकर भी मौन रहे। यह अविचल शांति, यह निर्मम विराग अमानुषिक है और इस दृष्टि से ऐतिहासिक बुद्ध 'मानवेतर' लगते हैं। यह एक नाधर्मी दिव्यता है, जिसका परिमार्जन बौद्ध परंपरा के सौर प्रतीकों एवं वैदिक परंपराप्रसूत सावित्री तत्त्वों के माध्यम से बुद्धचरित को लीला की लोकोत्तरता प्रदान करके ही है। अंत में चलकर महायान में 'बुद्ध' और 'तथागत' शब्द 'तथता' अर्थात् शून्यता के प्रतीक बन गए और इन्हें बुद्ध-चेतना (बुद्ध हृदय या बोधिचित्त) का पर्याय माना जाने लगा, जो महामैत्री और महाकरुणा के भाव से आप्लावित रहती है। श्री शैल (धान्यकरंक) के वैपुल्यवादियों ने तो यहाँ तक घोषित कर डाला कि (१) बुद्ध हुए ही नहीं थे, (२) संघ व्यर्थ है, (३) धर्म का 'शॉर्टकट' मार्ग है मैथुनाचार, जिससे अंतर का बुद्ध हृदय जाग्रत होता है। उनके अनुसार, प्रत्येक जीव में बुद्धत्व जाग्रत किया जा सकता है। सबमें बोधिचित्त या 'बुद्ध हृदय' सुप्त बीज के रूप में है, जो दश पारमिताओं और दश भूमिओं की सिद्धि के बाद उद्घाटित हो सकता है। यह एक तांत्रिक मार्ग का रूप लेता गया। फलतः वैदिक योग दर्शन, आगमों का तंत्राचार और बौद्ध महायान चिंता—ये तीनों एक ही प्रतिवेश में सटकर खड़े हो गए। तीनों में भेद करना ही कठिन हो गया।

हमने ऊपर कहा है कि बुद्धचरित में लोकोत्तरता का अनुप्रवेश हीनयानियों के सर्वास्तिवादियों ने ही अपनी श्रद्धा के अतिरेक द्वारा करना शुरू किया था और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ज्ञातकों का उद्भव हीनयान परंपरा के गर्भ से होता है। जंबूद्वीप पर कपिलवस्तु में गौतम (सिद्धार्थ) बुद्ध के रूप में जन्म लेना सुमेघ पंडित की नियति थी। इसकी चर्चा हम कर चुके हैं। सुमेघ पंडित दीपंकर बुद्ध के आशीर्वाद के अनुसार 'बेसंतर' और 'महौषध' आदि उनके श्रेष्ठ बोधिसत्त्वों के रूप में जन्म लेने के बाद तुषित लोक के स्वर्ग में जाकर स्थित हो गए और इस नियति की प्रतीक्षा करने लगे। तब वे 'महासत्त्व' रूप में स्थित थे। तभी लोक में 'बुद्ध-कोलाहल' पैदा हुआ (अर्थात् बुद्ध के प्रकट होने की जोर-शोर से त्रिभुवन में चर्चा होने लगी)। बुद्ध जन्म के बत्तीस उपलक्षण (निमित्त) दिखाई देने लगे। महाब्रह्म, शक्र, सुयम, चतुर्महाराजिक देवतागण समेत तैंतीस देवताओं ने बोधिसत्त्व (महासत्त्व सुमेघ पंडित) से तुषित लोक में जाकर प्रार्थना की, 'भंते (मित्र), तुमने बुद्ध बनने के लिए ही दश पारमिताओं की सिद्धि हासिल की थी। अब तुम्हारे अवतरण का काल आ गया है।' तब बोधिसत्त्व ने अपने जन्म लायक समय, द्वीप (देश), नगर, कुल और मातृकुक्षि संबंधी 'पंच महाविलोकन' किया। बोधिसत्त्व रूप में तो वे किसी भी योनि में कहीं भी जन्म ले सकते हैं, परंतु बुद्ध के रूप में जन्म लेने के लिए लोकमान्य ब्राह्मण या क्षत्रिय कुल ही श्रेष्ठ है, उसमें भी प्रतापी सूर्यवंश के इक्ष्वाकु कुल की शाक्य शाखा श्रेष्ठ है। अतः उन्होंने वैशाख पूर्णिमा के सात दिन पूर्व स्वप्नावस्था में पड़ी हुई माया देवी की दक्षिण कुक्षि में 'श्वेतहस्ती' के रूप में प्रवेश किया। अर्थात्, यह शुद्धोदन द्वारा मानुषी गर्भाधान नहीं था। बुद्ध बनने के बहुत दिन बाद जब वे कपिलवस्तु गए तो राजा शुद्धोदन ने कहा था—'वत्स, राजकुल में, क्षत्रिय वंश में भिक्षा माँगने का अधिकार नहीं है।' तो उनका उत्तर था—'महाराज, आपका कुल राजकुल है, मेरा नहीं। मैं तो दीपंकर के कुल का हूँ।' बुद्ध की लोकोत्तरता का प्रथम संकेत उनके गर्भाधान की कथा में देने के बाद 'जातक' आगे बताते हैं कि उनके गर्भ-प्रवेश के बाद ही बत्तीस निमित्तों का उदय होने लगा और तदनुसार अलौकिक घटनाएँ होने लगीं, जैसे—दस सहस्र दिक्चक्रवाल का एकाएक अनंत प्रकाश से भर जाना, अंधों को चक्षुदृष्टि प्राप्त होना, विकलांगों का स्वस्थ हो जाना, अवीचि (तरंगहीन, निस्तब्ध) संज्ञावाले नरकों की आग का एकाएक ठंडी हो जाना, सारी सृष्टि का अपने को यंत्रणामुक्त एवं प्रसन्न अनुभव करना, प्रेतों-पिशाचों की क्षुधा-पिपासा शांत हो जाना, सारे वाद्यों का अपने आप बज उठना, सारे पशु-पक्षियों, कौओं और गृद्धों तक का मधुरभाषी हो जाना, समुद्र का मीठा हो जाना और सबसे बढ़कर यह कि कठोर शिलाखंडों को फाड़कर एक साथ सात-सात कमल दंडों का निकल आना और शीर्ष पर फूटते कमलों के साथ वितानों की रचना करना, वृक्षों की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शाखाओं से शाखा कमलों का, स्कंधों से स्कंध कमलों का, लताओं से लता कमलों का अचानक फूट उठना, आकाश से असंख्य कमलनालों का लटक जाना और असंख्य कमलों का खिल उठना जिससे दस सहस्र धातु (ब्रह्मांड) वाली इस सृष्टि का ही महा किंजल्किनी माला जैसा सुशोभित होना। स्मरण रहे, 'श्वेतहस्ती' की तरह ही कमल भी एक महाबुद्ध प्रतीक माना जाता है और स्वयं में यह एक और सौर प्रतीक भी है। प्रकाश (प्रभामंडल) के बाद कमल ही भारतीय संस्कृति का श्रेष्ठतम प्रतीक भी है जो सौम्यता, पवित्रता, सौंदर्य एवं अवदमनहीन प्रफुल्लित मानस का प्रतीक है। आगे बताया गया है कि 'नैहर' (पीहर) जाते समय माया देवी को 'मंगल शाल' वन मिला। मंगल शाल सौ शाखावाले विशालकाय शाल वृक्षों को कहते थे, जो बाद में 'बुद्ध शाल' कहे जाने लगे। इन्हींके लिए लोक में 'हजार साल खड़ा, हजार साल पड़ा, हजार साल सड़ा' उक्ति प्रचलित है। आपादमस्तक पुष्पित शाल वृक्षों को देखकर माया देवी के मन में शालभंजिका-क्रीड़ा की इच्छा हुई। उन दिनों किशोरी कन्याओं और तरुणियों में यह खेल लोकप्रिय था। एक शाल की कंछी पकड़ते ही देवी को गर्भोत्थान हो गया और इसीसे इसे 'तिरश्चीन जन्म' कहते हैं; क्योंकि मानुषी खड़े-खड़े प्रसव नहीं करती हैं। बुद्ध का प्रसव माया देवी ने स्थानक मुद्रा में अर्थात् खड़े-खड़े ही किया था। बुद्ध मानव शिशु की तरह पृथ्वी को प्रणाम करते हुए मुट्ठी बाँधे सिर के बल नहीं भूमिष्ठ हुए थे। वे दोनों हाथ और दोनों पैर प्रसारे उद्बोधन और गति की मुद्रा में ऐसे उतरे मानो ऊर्ध्व सोपान से नीचे धरती पर उतर रहे हों। महाब्रह्मा ने तत्क्षण सोने के जाल में उस सद्यःजात (जनमतुआ) को लेकर देवी के सामने प्रस्तुत कर दिया। तत्काल शिशु बुद्ध ने दसों दिशाओं का अवलोकन करके उत्तर दिशा में सात पग गमन किया। फिर वे जगती के शिखर पर अर्थात् 'शांति बिंदु' पर खड़े हो गए। अन्य जीवों की तरह वे उल्बण (गर्भ-मल) से ढके नहीं निकले। उनके जन्म की ये सारी क्रियाएँ उनकी लोकोत्तर प्रकृति की और उनकी भावी भूमिका की द्योतक हैं।

इस देवशिशु के पीछे-पीछे महाब्रह्मा श्वेत छत्र लेकर चल रहे थे। अन्य देवता 'ककुधभांड' (खड्ग, छत्र, पगड़ी, पादुका तथा व्यंजन यानी पंखा या चामर आदि के पात्र) लेकर चल रहे थे। दस सहस्र चक्रवालों (लोकों) के देवता और लोकधर्म के 'व्यतर' (जंतर) देवता, नाग, गंधर्व, यक्ष आदि स्तुति कर रहे थे। बुद्ध के चरित्र में 'योगी' और 'चक्रवर्ती', दोनों के तत्त्व हैं। सप्तपग चंक्रमण, 'शांत बिंदु' पर खड़ा होना, तिरश्चीन पद्धति से प्रसव उनकी 'योगी' भूमिका का संकेत देते हैं तो छत्र-चामर-पगड़ी आदि चक्रवर्ती तत्त्व का संकेत देते हैं। बुद्ध धर्म विजयी, धर्म

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शास्त्री और धर्म चक्रवर्ती थे और योगी तो वे थे ही। इस प्रकार बुद्ध-जन्म और आगे के जीवन की विविध क्रियाओं में बौद्ध साहित्य दिव्यता और लोकोत्तरता का संकेत देता चलता है। इन संकेतों में पूर्ववर्ती आर्य चिंतन परंपरा के शील-तत्त्व और तेज-तत्त्व का पूरा समावेश उपस्थित किया गया है और यह वर्णन संकेत देता है कि विष्णु के अन्य अवतारों की तरह बुद्ध भी आदित्य या सूर्य के ही अवतार हैं। इसीसे कालांतर की भारतीय मनीषा ने इनका संबंध 'शिव' (अग्नि तत्त्व) से नहीं, बल्कि विष्णु (अग्नि + सोम) के साथ ही जोड़ा है।

बुद्ध के चरित्र में सौर तत्त्वों का समावेश गौतम से पूर्व आए बुद्धों के वर्णन से भी स्पष्ट होता है। उनके अंकन में सदैव प्रकाश, तेज या चंद्रलोक के बिंब प्रयुक्त होते हैं। प्रथम बुद्ध दीपंकर का शरीर 'दीपवृक्ष' की भाँति अस्सी हाथ ऊँचा था। उनके सिर के चारों ओर दो हाथ व्यास का 'प्रभामंडल' (Halo) था, जिससे छह रंग की किरणें फूटती थीं। उनके संपूर्ण शरीर के तेज से महापृथ्वी प्रकाशित होती थी और वे धरती पर 'महासूर्य' की तरह विचरण करते थे। कहते हैं कि उनके काल में उनके तेज से माल पर्वत, नदी, अरण्य, वृक्ष आदि ही नहीं, घर के भीतर की वस्तुएँ उलूखल-मुशल और दृषदुपल (दृषद् = सील, उपल = लोढ़ा) जैसी सामान्य वस्तुएँ भी स्वर्णाभा से चमकती थीं। चंद्र-सूर्य और रात्रि-दिवस का भेद नहीं था। पुष्पों के प्रस्फुटन से प्रातः को तथा पक्षियों के कलरव से सायं को पहचाना जाता था। महाबुद्ध-प्रकाश, सूर्य-प्रकाश की तरह प्रखर और तप्त नहीं होता है। यह सुखद 'अनवतप्त' प्रकाश है। एक अन्य पूर्व बुद्ध 'मंगल बुद्ध' के बारे में कहा गया है कि वे एक बार किसी पूर्ववर्ती बुद्ध के चैत्य के सामने खड़े हो गए और अपने अस्सी हाथ ऊँचे शरीर को ही 'दंड दीपक' (मशाल) बनाकर उसे प्रज्वलित कर दिया और पूरी रात उस चैत्य की परिक्रमा करते रहे, तो भी उनका एक लोम भी नहीं जला। हम मानते हैं कि ये सारी बातें ही कवि कल्पना हैं; परंतु इससे यह सिद्ध होता है कि परंपरागत बौद्ध-मनीषा अपने धर्म-शास्ता को एक महासूर्य के रूप में, एक 'तमस' से जूझनेवाली तेजोमयी दिव्य शक्ति के रूप में देखती रही है और यह बिंब परंपरा तथा अवधारणा उसे पूर्ववर्ती आर्य परंपरा से ही उत्तराधिकार के रूप में मिली है, जो 'सवितृ' के प्रति प्रतिबद्ध है और सृष्टि के मूल में सविता की अग्नि सोमात्मक प्रकृति की क्रिया को ही स्वीकृति देती है। यह 'सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि' की परंपरा का ही एक संस्करण है। कहने के लिए श्रमण और ब्राह्मण दो परंपराओं की बात हम कहते हैं; परंतु सूक्ष्म विश्लेषण से पता चलता है कि इनका प्रस्थान-बिंदु, इनकी क्रिया-पद्धति और चरम समाहार रूप एक ही जैसा है और वस्तुतः

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परंपरा ऊपर से दो दिखाई पड़ने पर भी एक ही है।

बुद्ध का जीवन महाजीवन है, अर्थात् अन्य अवतारों और पैगंबरों के जीवन की तरह यह भी लोक समूह के माध्यम से विकसित एक प्रतीकात्मक जीवन है। यही प्रतीकात्मक जीवन 'मिथक' (Myth) कहलाता है और भविष्य के मनुष्य का प्रेरणास्रोत उसका ऐतिहासिक जीवन नहीं, यही प्रतीकात्मक जीवन होता है। इतिहास की अपेक्षा 'मिथक' अधिक शक्तिशाली तत्त्व है; क्योंकि मनुष्य के दैविक जीवन और विश्व के संबंध में उसकी मानसिकता का निर्माण 'मिथक' द्वारा ही होता है। अशोक, अकबर या गांधी का जीवन इसी कारण प्रभावी है कि उसमें मिथक बनने की अंतर्निहित क्षमता है। इतिहास का शेष भाग तो शोध-अनुसंधान एवं बौद्धिक ज्ञान की विषय वस्तु मात्र है; पर 'मिथक' एक निरंतर ऊर्जा देनेवाला 'पावर हाउस' है, जो अतीत के साथ मरता नहीं, बल्कि एक जीवंत शक्ति के रूप में भविष्य में कार्य करता है। राम, कृष्ण, शिव, बुद्ध, महावीर अथवा यीशु खीष्ट के बारे में यही तत्त्व सार्थक है। सर ब्रजेंद्रनाथ शील ने इसीसे ऐतिहासिक यीशु के प्रश्न को ही निरर्थक बताया है। ऐतिहासिक यीशु जनमे, जीवित हैं और नित्य प्रेरणा के रूप में ईसाई जगत् में अनुभूत हो रहे हैं। यह बात तर्कजीवी बुद्धिवादी को मान्य हो या न हो, इससे कुछ आता-जाता नहीं। भारतीय साहित्य और कला में बुद्ध एक अत्यंत जीवंत शक्ति और महाप्रतीक के रूप में स्थापित हो गए हैं; परंतु अपने इसी लोकोत्तर रूप में। उनकी लोकोत्तर छवि की शक्ति का स्रोत यह है कि वह पूर्ववर्ती सांस्कृतिक एवं बौद्धिक परंपरा में 'मूल संश्लिष्ट' हैं। यदि ऐसा न होता तो उसकी पकड़ इतनी स्थायी और गहरी नहीं होती कि बौद्ध धर्म के अपसरण के बावजूद वे हिंदू समाज की चिंता और भोजन-पान तक में अभिव्यक्त हो रहे हैं। उनकी लोकोत्तरता की परंपरा सीधे-सीधे वैदिक आर्य साहित्य और वैदिक-वैदिकेतर संयुक्त लोकधर्म से आती है। वे संस्कृति की एक संयुक्त परंपरा से उद्भूत और विकसित हुए और उन्हें उसी संस्कृति की संयुक्त परंपरा के एक महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में देखना ही उनको सही ढंग से देखना है। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'भारतीय कला' (प्रथम भाग) में इस तथ्य पर विचार करते हुए दो स्पष्ट स्थापनाएँ की हैं। प्रथम तो यह कि बुद्ध भी विष्णु के अन्य अवतारों की तरह 'वैदिक सूर्य' के अवतार हैं और दूसरा यह कि बुद्ध जीवन एक 'ललित' है अर्थात् लीला है, जो एक विशेष प्रकार की भाषिक भंगिमा और मुहावरे को लेकर चलती है, जिसका मूल अध्यात्मशास्त्र और सौंदर्य बोध की उस वैदिक धर्म एवं वैदिकेतर लोकधर्म की मिश्रित परंपरा में है जिससे कि सनातन धर्म का जन्म हुआ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और इस तथ्य की प्रतिध्वनि 'एष धम्मो सनातनो' के बुद्ध वाक्य में आदि से अंत तक है। इसी धर्म को श्रीमद्भागवत भी 'सनातन धर्म' कहकर स्वीकृत करता है। बुद्ध-लीला और बुद्ध-रूपाकृति के संबंध में डॉ. अग्रवाल स्पष्ट भाषा में कहते हैं—'गौतम के मानुषी रूप के बारे में जो कहा जाए, परंतु उनके लोकोत्तर रूप के आधार वैदिक थे। ललित विस्तर में बुद्ध के ज़ीवन का वर्णन करते हुए लोकोत्तरवादी आचार्यों ने वैदिक प्रतीकों के साँचे में ढालकर ही बुद्ध की जीवन लीलाओं का विस्तार किया है। तुषित स्वर्ग का श्वेतहस्ती, मातृकुक्षि से तिरश्चीन जन्म, सप्तपद, शीतोष्ण जलधाराओं से प्रथम अभिषेक, बोधिवृक्ष, बोधिमंड, मारघर्षण, इंद्र शैल गुहा, वानरों द्वारा मधु उपहार, लोकपालों द्वारा प्रदत्त चार भिक्षापात्रों का एक पात्र में परिवर्तन, अग्नि की ज्वालाओं और जलधाराओं का शरीर से प्रकट करने का चमत्कार एवं सहस्र बुद्ध रूप का दर्शन—इन सबका कोई अर्थ बौद्ध साहित्य में नहीं मिलता। ये मानुषी बुद्ध की जीवित घटनाएँ नहीं, बुद्ध के प्रतीकात्मक जीवन की लीलाएँ हैं। इन कड़ियों की व्याख्या की कुंजी प्राचीन वैदिक परंपरा में पाई जाती है। बुद्ध स्वयं सूर्य के अवतार हैं। श्वेतहस्ती विराट् संवित चेतना शक्ति का रूप है। तिरश्चीन जन्म का संकेत यह है कि जीवन या प्राण का स्रोत अज्ञात है, इसे ऊर्ध्व, अधः, पुरस्तात् या अवस्तात् नहीं कहा जा सकता है। जैसे कोई सुवर्ण या श्येन पक्षी तिरछा झपटता है, वैसे ही प्राण या जीवन का भूतों में आगमन होता है। शीतोष्ण जल के दो स्रोतों से प्रथम स्नान का अभिप्राय विश्व के ठंडे और गरम या अग्नि-सोमात्मक द्वंद्व से है। मधु सोम ज्योति और अमृत का प्रतीक माना जाता है। वानर इंद्र का सहयोगी वृषाकपि है। मधु विद्या या सोम का रहस्य इंद्र के पास है। उसीके दूत वानर बुद्ध को मधुपात्र या सोम चमस प्रदान करते हैं। इंद्र शैल गुहा भी वैदिक कल्पना है, क्योंकि अग्नि का प्रथम जन्म सानु या पर्वत के गुह्य स्थान में कहा गया है। चार पात्रों का एक बनना उस वैदिक कल्पना से संबंधित है, जिसमें ऋभु देवों ने एक से चार चमस बनाए (एकं चमसं चतुरः कृणोतन), इसका अर्थ यह है कि एक ही मूलभूत कारण से यह विश्व चतुष्टयात्मक बना है।' डॉ. अग्रवाल आगे भी बताते हैं—'अग्नि जल के चमत्कार (प्रतिहार्य) सृष्टि के अग्नि सोमात्मक रूप का संकेत देते हैं। बुद्ध की सहस्र बुद्ध रूप की कल्पना के पीछे वैदिक 'सहस्र शीर्षा पुरुष' की कल्पना है। उनका धर्मचक्र वस्तुतः सूर्य चक्र, ब्रह्म चक्र या सुदर्शन चक्र की वैदिक परंपरा से आता है।' उसका वर्णन ही सनातन वैदिक बिंबों से युक्त होकर आया है। ललित विस्तर की माला में यह चक्र 'सर्वत्र, सहस्त्रार, सहस्रशिरस्, सनेभि, सनाभि, सपुष्पदल, सहेमजाल, सुगंधहस्त, संपूर्णकुंभ, सनंदिकावर्त्त, सस्वस्तिकालंकृत' होकर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बुद्ध के सम्मुख उपस्थित हुआ जो वस्तुतः सनातन ऋषि धर्म का चक्र है। उनका भिक्षापात्र भी प्रजापति का 'भुजिष्य' पात्र है, जिसमें पृथ्वी के लिए 'हवि' रखी जाती है। यही कारण है कि आगे चलकर महायान का मुक्त चिंतन नए-नए विकास को प्राप्त होता हुआ शिवलीला और विष्णुलीला के समानुरूप होता गया और दोनों परंपराओं की आकृतियाँ कमोबेश एक हो गईं; यद्यपि तत्त्वशास्त्र (Metaphysics) का प्रभेद बरकरार रहा।

लोगों में भ्रांति है कि हिंदू धर्म में विष्णु-शिव की मूर्तिपूजा महायान के प्रभाव से आई है। सत्य तो यह है कि सम्राट् कनिष्क के पूर्व बुद्ध मूर्ति बनाने का निषेध था और बुद्ध की पूजा बुद्ध प्रतीकों की पूजा के रूप में ही होती थी। ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी की संकर्षण की मूर्ति प्राप्त है और संकर्षण-वासुदेव की मूर्तियों का प्रचलन था जैन तीर्थंकरों और वैष्णव देवताओं की मूर्तिपूजा के अनुकरण पर। संभवतः कनिष्क के राज्यादेश और महायान बौद्ध दृष्टि की उदारता के फलस्वरूप बुद्ध मूर्ति प्रारंभ हुई और जैन, बौद्ध व वैष्णव मूर्तियों की तक्षण कला का मूल साँचा भरहुत-साँची की यक्ष मूर्तियों के अनुकरण पर प्रचलित हुआ। बुद्ध की मृत्यु के बाद ही श्रद्धालुओं ने उनके प्रतीकों की पूजा आरंभ कर दी थी। मुख्य प्रतीक है 'धर्मचक्र'। इसके अतिरिक्त भागता हुआ अश्व (महाभिनिष्क्रमण), सिंह (मारविजय), श्वेतहस्ती (गर्भाधान), वृषभ (धर्म) तथा कमल-पुष्प; जो बुद्ध की महाकरुणा, महामैत्री, निर्वाण-सुख आदि सोमात्मक तत्त्वों का प्रतीक है। ये पाँच महाप्रतीक हैं। इनके अतिरिक्त महामणिनील पात्र (भिक्षापात्र, जो चारों चतुर्महाराजिक देवताओं के दिए हुए और नीलमणि चषकों का सम्मिलित रूप है), उष्णीश, चीवर, युगल चरण, नंदिकावर्त्त और स्वस्तिक अन्य प्रचलित प्रतीक थे। इनके अतिरिक्त 'बुद्ध-यष्टि' (छड़ी) की पूजा होती थी, जिसपर पूर्ण कुंभ, पद्म-पत्र आदि बने रहते थे। इन्हें 'बुद्ध तनु' का प्रमाण माना जाता था। बड़े प्रतीक थे स्तंभ या चक्रध्वज और सबसे बढ़कर स्तूप, जो बुद्ध के विराट् रूप यानी विश्व रूप की परिकल्पना को व्यक्त करता था।

प्रारंभ में बुद्ध एक अलौकिक पुरुष माने जाते थे। बाद में भक्तों के अंदर यह धारणा विकसित हुई कि बुद्ध-शरीर दो हैं—रूपकाय और अरूपकाय। फ़िर महायान के जन्म के बाद इस रूपकाय के सूक्ष्मतर रूप कल्पित किए गए—(१) निर्वाणकाय (शाक्य-सिंह), (२) संभोगकाय (तेजस्वी शास्ता-वपु), (३) धर्मकाय (शाश्वत बुद्ध-शरीर)। आगे चलकर आदिबुद्ध और 'ब्रजसत्त्व बुद्ध' के आइडिया का विकास हुआ और चौथी काया मानी गई 'ब्रजकाय' (सहजकाय)। तब तक भरहुत और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साँची के स्तूप बन चुके थे। बुद्ध ने स्वयं मात्र 'स्तूप' को ही प्रत्यक्ष स्वीकृति दी थी। उन्होंने अपने रूप के तक्षण या अंकन का कोई निर्देश नहीं दिया था। ईसापूर्व दूसरी शती में मथुरा मंडल में वासुदेव-संकर्षण की मूर्तियाँ पूजी जाने लगी थीं। उनके देवायतन चालू हो गए थे और जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ भी बनने लगी थीं। लोक दृष्टि को यह मूर्तिपूजा बड़ी तेजी से आकृष्ट करनेवाली उपासना थी। बौद्ध धर्म का स्वरूप महायान की ओर जा ही रहा था। भक्ति, धर्म और भागवत आंदोलन का केंद्र मथुरा ही था। कनिष्क के सिक्कों पर अन्य देव मूर्तियों की तरह बुद्ध की मूर्ति भी अंकित हो चुकी थी; परंतु अर्चा-विग्रह बनाने की बात अभी तय नहीं हुई थी। तो भी बौद्ध जनता के अंदर औरों की देखा-देखी बुद्ध के रूपकाय को पूजने की तृषा बलवती थी।

बौद्ध भिक्षु आचार्य बल के नेतृत्व में बौद्धों में मूर्तिपूजा की माँग बढ़ रही थी। सम्राट् कनिष्क की स्वीकृति से इसे बल मिला। प्रारंभ में बोधिसत्त्वों की ही मूर्तिपूजा शुरू हुई। बाद में बुद्ध की 'स्थानक' (खड़ी) और 'आसीन' (बैठी), दोनों तरह की मूर्तियों की रचना होने लगी और डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार, मथुरा मंडल से ही बुद्ध मूर्ति की पूजा का श्रीगणेश हुआ। शुंग काल में ही भरहुत और साँची में महाकाय यक्ष प्रतिमाओं का निर्माण होता था। अत: साँचा और तकनीक तो उपलब्ध थी ही, सिर्फ धार्मिक भय से इतने दिनों तक बुद्ध मूर्ति का निर्माण रुका रहा। सम्राट् कनिष्क और भिक्षु संघ, दोनों की सहमति से यह बाधा हटी। बत्तीस पुरुष लक्षण, देव लक्षण, चक्रवर्ती लक्षण और योगी लक्षण—इन चारों के मिश्रण से बुद्ध का रूप कल्पित किया गया। ये बुद्ध मूर्तियाँ ऐतिहासिक बुद्ध की प्रतिकृति नहीं हैं। ये उनकी अंत:प्रकृति या बोधिसत्त्व प्रकृति के कल्पित रूप मात्र हैं। बुद्ध सृष्टि का अंधकार दूर करनेवाले महासूर्य की तरह 'स्तूप' के रूप में या 'चक्रध्वज' (प्रकाश-स्तंभ) के रूप में और 'स्थानक' तथा 'आसीन' मुद्रा में मानुषी मूर्तियों के रूप में अभिव्यक्त किए गए हैं। वस्तुत: सम्राट् कनिष्क के समय में ही लोकोत्तरवादी भिक्षुओं का एक दल उभरकर आ गया था, जो बुद्ध को अलौकिक पुरुष मानते थे और उनके प्रमाण ग्रंथ 'महावस्तु' में अनेक महायानी सिद्धांत आ गए हैं; जैसे बोधिसत्त्व की दश अवस्थाएँ, बुद्ध के प्रति स्तुतिपरक श्लोक एवं बुद्ध की अर्चा पर बल। कनिष्क के समय ही बौद्ध आचार्यों की 'महासंगीति' की बैठक हुई थी, जिसमें शून्यवादी नागार्जुन ने महायान पंथ की नींव डाली। तब से बौद्ध धर्मयान के द्वार दशों दिशाओं में मुक्त हो गए। उनमें लोकधर्मी उत्सव परंपराओं, बिंबों और प्रतीकों का लोकाकर्षण के लिए खुलकर अनुप्रवेश होने लगा। भारतेतर लोकधर्म के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तत्त्व भी प्रवेश करने लगे। वह मंगोलिया, चीन, जापान तक फैलता गया। यह महायान का ही मुक्त आकाश है, जिसमें प्रत्येक देश अपनी देशी परंपरा और संस्कृति के अनुसार बौद्ध धर्म का एक निजी देशी स्वरूप विकसित करता गया। सच्चाई तो यह है कि एक ही किस्म के मानसिक वातावरण ने स्थविरवाद का पराभव, महायान का उदय, कर्मकांडवादी वैदिक धर्म का अपनयन और ब्राह्मण धर्म के मुक्त उदारवादी संस्करणों, शैव और वैष्णव धर्मों के उन्नयन को जन्म दिया। ये एक ही मुक्त एवं उदार धर्म-जिज्ञासा के प्रतिफलन हैं। इनसे धर्म के चारों आयाम—(१) कला-साहित्य, (२) उपासना पद्धति, (३) दर्शन, (४) सामाजिक व्यवस्था, कम या ज्यादा प्रभावित हुए। महायान में मुख्य बात यह है—(१) एक आदिबुद्ध के नीचे असंख्य बोधिसत्त्वों की कल्पना तथा प्रत्येक बुद्ध को आदिबुद्ध का अवतार एवं प्रत्येक बोधिसत्त्व को उससे जुड़े बुद्ध का अवतार मानना, फलतः दार्शनिक प्रभेद के बावजूद बौद्ध चिंता पद्धति का 'ठाट' या 'साँचा' ब्राह्मण वेदांत की समाकृति हो गया। (२) सही या प्रकृत बुद्ध धर्म है जीवों के उद्धार के लिए अपने को बोधिसत्त्व रूप में रखना। निर्वाण भी एक कामना या प्रलोभन है, जिससे 'बोधिसत्त्व' विरत रहते हैं। (३) बुद्ध का असली रूप अनिर्वचनीय 'शून्य' (तथ्यता) है, अतः यह बहुत कुछ वेदांत के ब्रह्म के समानुरूप हो जाते हैं। (४) बुद्ध भक्ति की ओर झुकाव और बुद्ध की शक्ति 'महाकरुणा' पर विशेष ज़ोर। धीरे-धीरे स्थिति ऐसी होती गई कि यह 'श्रीमद्भगवद्गीता' के धर्म का एक दुर्बल संस्करण बन गया और दोनों में प्रभेद करना कठिन हो गया। महायान ने आगे चलकर ब्राह्मण देवताओं की आकृति-प्रकृति को, जो भारतीय लोकधर्म के संयुक्त उत्तराधिकार से वैदिक पथ पर चलकर प्राप्त हुई थी, अपनी प्रतीक भाषा में ढालना शुरू कर दिया। ब्रह्मा के गुण-ज्ञान खड्गधारी मंजुश्री बोधिसत्त्व में आ गए और उनकी सहचरी शक्ति द्वारा बौद्ध तंत्रों में सरस्वती का विकल्प बन गई। वैसे भी ब्राह्मण शाक्त तंत्र में दश महाविद्याओं में सरस्वती नहीं हैं और उनका विकल्प 'तारा' और 'त्रिपुर भैरवी' ही मानी जाती हैं। पद्मपाणि अवलोकितेश्वर महाकरुणा के प्रतीक हैं और उनमें विष्णु के गुणों का आवेश देखा जा सकता है। शिव-शक्ति युग्म की तरह प्रज्ञा-पारमिता और अभिताभ-बुद्ध जैसे युग्मों की कल्पना तथा पूजा बौद्धों में प्रचलित हो गई। तंत्र और आगम क्षेत्र में तो ब्राह्मण और बौद्ध धर्म में प्रभेद करना ही कठिन हो गया। महायान की अनेक बातें, यथा जीव दया, अहिंसा, भक्ति और उदार सामाजिक दृष्टि को स्वीकार करते हुए वैष्णवों ने 'बुद्ध जनार्दन' की कल्पना द्वारा बुद्ध-लीला की सौर-प्रकृति को स्पष्टतम स्वीकृति दे दी। बुद्ध के लिए बौद्ध साहित्य में बार-बार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'भगवान्' और 'भगवन्' शब्द का प्रयोग उन्हें विष्णु के निकट लाता गया। बुद्ध को 'परमात्मा' नहीं कहा गया, यद्यपि वे महायोगी थे। उन्हें 'ब्रह्म' नहीं कहा गया, यद्यपि उनका महायानी शून्य रूप ब्रह्म के पड़ोस में उन्हें ले जाता है। परंतु भक्तिमार्गियों के ईश्वर की संज्ञा 'भगवान्' से बौद्ध शास्त्र ही उन्हें बार-बार अलंकृत करते हैं और उनकी भूमिका उनके भक्तों के लिए सुहृद्, सखा, गुरु और कर्माध्यक्ष की भूमिका है; जो गीता के भगवान् की घोषित भूमिका है। उनके नखशिख रूप में, श्यामवर्ण और आयुध को छोड़कर विष्णु के साथ समानता ही नहीं, एकरूपता स्थापित हो गई। ऐसी स्थिति में भारतीय मनीषा के लिए दोनों को अलग मानना कठिन हो गया। जिस प्रकार 'गीता' में विष्णु की 'विश्व रूप' कल्पना की गई है, वैसे बुद्ध की 'विश्वकाय' रूप कल्पना भी जनमी, जिसे प्रतीकात्मक रूप में बौद्ध स्तूप-शिल्प व्यक्त करता है। इस विषय में डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल कहते हैं—'बुद्ध उस विराट् पुरुष के प्रतिनिधि थे, जो सूर्यमंडल का अधिष्ठाता है। बुद्ध सूर्य वंश के इक्ष्वाकु कुल में पैदा हुए थे और इस दृष्टि से वे सूर्य की विराट् शक्ति से समन्वित थे। बुद्ध की स्मृति रखने के लिए प्रयत्नशील दार्शनिकों ने अपनी समस्या का समाधान स्तूप-रचना द्वारा किया। स्तूप सविता या सूर्य की सहस्र किरणों का समूह या समष्टिपुंज है, जिसे (वेदों में) हिरण्य स्तूप कहा जाता था।' वस्तुतः निगम-विद्या की दृष्टि से 'द्युलोक में जो सविता है, वही अंतरिक्ष में आदित्य (सूर्य, विष्णु आदि) और सोम है तथा पृथ्वी पर अग्नि है। सारे वैदिक देवता सौर देवता हैं। बुद्ध-लीला का विकसित रूप उन्हें भी वैदिक देवमंडल की समाकृति में सौर देवता के रूप में उपस्थित करता है।' अग्नि प्रत्येक जीव के प्राण केंद्र में है। इसीसे वैदिक भाषा में विश्व और विश्व का प्रत्येक प्राणी ही आंगिरस 'हिरण्य स्तूप' कहा गया है। विश्व के सारे प्राण केंद्रों की समष्टि का नाम सविता-शक्ति है, जो द्युलोक का द्योतक है। उसके नीचे का अंडाकार अर्धगोलक और अर्धगोलक के नीचे 'रशना' या 'चुनरी', ये क्रमशः 'भुवः' (अंतरिक्ष) और 'भू' (पृथ्वी) की द्योतक है। स्तूप की 'रशना' (करधनी) और नीचे की अलंकृत 'चुनरी' पर महाब्रह्म, शक्र, चार महाराजिक देवगण, यक्ष, किन्नर, गंधर्व, नाग एवं लौकिक मानुषी जीवन के दृश्य अंकित हैं। पान गोष्ठी, मान-मनुहार, नृत्यरत अप्सराएँ, शाल भंजिकाएँ, मैथुन के नग्न दृश्य तक—सबकुछ जो लोक में घटित होता है, बौद्ध दर्शन की मूल प्रकृति के विपरीत होने पर भी 'मांगलिकता' और 'शोभा' के लिए उत्कीर्ण किया गया है।

ये सारे कला अभिप्राय (Motif) तत्कालीन लोकधर्म से आते हैं। इस प्रकार मानुषलोक और देवलोक का समस्त जीवन स्तूप पर उपस्थित किया गया है; क्योंकि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह बुद्ध के 'विश्वकाय' या 'विश्व रूप' को व्यक्त करता है। महाबुद्ध इन सबके शिखर पर 'जगती के शिखर पर', समस्त ब्रह्मांड को आलोकित करते हुए 'सविता' की तरह सर्वोच्च बिंदु (परम पद) पर स्थित हैं, स्तूप के शिखर पर अटारी और छत्र के प्रतीक रूप में। सबसे नीचे है स्थूल जीवों का 'काम लोक'। उसके ऊपर है शुद्ध भाव जगत् का 'रूप लोक' (सौंदर्य लोक), उसके भी ऊपर है अरूप लोक जिसमें बुद्ध विहार करते हैं और जिसके 'शिखर' पर वे महाबुद्ध के रूप में 'विश्व चक्रवर्ती' बनकर स्थित हैं। यही बुद्ध का 'विश्व रूप' है। इसीको वैदिक पद्धति 'भूः भुवः स्वः' रूप में देखती है और स्वलोक (स्वः) में 'सविता' की स्थिति मानती है। 'गीता' के 'विभूतियोग' में जो धर्म को वैश्विक रूप प्रस्तुत किया गया है, वही भाव स्तूप की 'रशना' और नीचे की अलंकृत चुनरी के द्वारा व्यक्त होता है। यही है भारतीय दृष्टि का 'लोकायत' अर्थात् 'सेक्युलर' रूप जो धर्मनिरपेक्ष नहीं, धर्मसंयुक्त चलता है। यह 'सेक्युलरिज्म' के आधुनिक अर्थ से सर्वथा अलग तथ्य है। इसमें 'अर्थ' और 'काम' को धर्म और मोक्ष के प्रतिवाद (Antithesis) के रूप में नहीं स्वीकृत किया गया है। परंतु लोक-जीवन में उन्हें अकुंठित श्रद्धा दी गई है। बौद्ध स्तूप इसी परिकल्पना पर बने हैं। कहने का तात्पर्य यह कि कला-साहित्य और लोक-जीवन में ब्राह्मण और बौद्ध परंपराएँ एक ही सम्मिलित उत्तराधिकार से जनमीं, विकसित हुईं और परस्पर समायोजित होती रही हैं। यदि वे सर्वथा एक-दूसरे की वादी-प्रतिवादी ही होतीं तो यह सामंजस्य और समायोजन संभव ही नहीं था। ऐतिहासिक बुद्ध ने ब्राह्मण कर्मकांड एवं रूढ़ियों के प्रति विद्रोह किया था अवश्य, परंतु सारी ब्राह्मण परंपरा कर्मकांड और रूढ़ियों में ही नहीं चुक जाती है। उन्होंने भी अपने बुद्ध-वचनों में ब्राह्मण के प्रति सर्वदा श्रद्धा व्यक्त की है। वे ब्राह्मण, यज्ञ, अग्निहोत्र आदि शब्दों की अपनी ढंग से व्याख्या करते थे। 'गीता' में श्रीकृष्ण ने भी यही किया है। पूरे डेढ़ हजार वर्ष तक बौद्ध गृहस्थ समान रूप से ब्राह्मण और श्रमण को श्रद्धा देता रहा है। बौद्ध-धर्म के अपसारित हो जाने के बाद श्रमण का स्थान 'वैष्णव' ने लिया; क्योंकि बुद्ध ही विष्णु घोषित हो गए। आज लोक-जीवन में 'ब्राह्मण-वैष्णव' (भोजपुरी में बाभन-विसुन) का मुहावरा चलता है। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो परंपरा एक ही थी, वह थी 'भारतीय सनातन परंपरा' और संस्कृति की 'मुख्य धारा' और 'वामधारा', दोनों ही उसी परंपरा से उद्भूत और विकसित हैं। आज की राजनीति, जो तोड़ने में अपना स्वार्थ-साधन देखती है, भले ही इसे 'दो' या दो से अधिक दिखाए; परंतु संस्कृति, साहित्य और समाज के अध्येता को राजनीति के सतही गणित से कुछ लेना-देना नहीं है। □□□

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कुबेरनाथ राय

जन्म : १९३५, मतसा (गाजीपुर, उ.प्र.)

मृत्यु : ५ जून, १९९६।

शिक्षा : काशी हिंदू विश्वविद्यालय और कलकत्ता विश्वविद्यालय में।

प्रकाशित रचनाएँ : 'प्रियानीलकंठी', 'रस आखेटक', 'गंधमादन', 'निषाद बाँसुरी', 'विषाद योग' (आधुनिक चिंतन), 'पर्णमुकुट', 'महाकवि की तर्जनी' (रामकथा और वाल्मीकि समस्या के संदर्भ में), 'मणिपुतुल के नाम' (गांधीवादी रस दृष्टि और शिल्प दृष्टि पर), 'किरात नदी में चंद्रमधु', 'मनपवन की नौका' (बृहत्तर भारत के सांस्कृतिक संदर्भ), 'दृष्टि अभिसार', 'त्रेता का बृहत्साम', 'कामधेनु' तथा 'अंधकार में अग्निशिखा'।

उपलब्धियाँ : 'प्रियानीलकंठी' पर उत्तर प्रदेश शासन की हिंदी समिति का 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल पुरस्कार' तथा 'गंधमादन' एवं 'विषाद योग' पर विशेष पुरस्कार। 'पर्णमुकुट' पर उत्तर प्रदेश शासन के हिंदी संस्थान द्वारा 'त्वरित पुरस्कार'। 'महाकवि की तर्जनी' पर मानस-संगम, कानपुर द्वारा प्रदत्त ताम्रपत्र-प्रशस्ति एवं 'साहित्य पुरस्कार'। इसी कृति पर साहित्य अनुसंधान परिषद्, कलकत्ता द्वारा 'राम साहित्य पुरस्कार'। पुनः इसी कृति पर उत्तर प्रदेश शासन के हिंदी संस्थान द्वारा प्रदत्त ताम्रपत्र-प्रशस्ति एवं 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल पुरस्कार'। वर्ष १९९३ में 'कामधेनु' पुस्तक पर 'मूर्तिदेवी पुरस्कार' से सम्मानित।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.